व्याप्तिनिर्णय :- एक अध्ययन

[दिल्ली विश्वविद्यालय की एम० फिल्० (संस्कृत) उपाधि के लिए प्रस्तुत
लघु शोध-प्रबन्ध]

[illegible]कर्त्री
ललिता कुमारी जुनेजा

निर्देशक
डॉ0 हर्ष कुमार
एम० ए०, पी-एच० डी०, दर्शनाचार्य, व्याकरणतीर्थ,
प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग
सेन्ट स्टीफन्स महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१९८४

ID

व्याप्तिनिर्णय :- एक अध्ययन

[दिल्ली विश्वविद्यालय की एम० फिल्० (संस्कृत) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध]

प्रस्तुतकर्त्री

ललिता कुमारी जुनेजा

निर्देशक

डॉ० हर्ष कुमार

एम० ए०, पी-एच० डी०, दर्शनाचार्य, व्याकरणतीर्थ,
प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग
सेन्ट स्टीफन्स महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

१९८४

विज्ञप्ति

"व्याप्तिनिर्णय: - एक अध्ययन" शीर्षक लघु-शोध-प्रबन्ध डा० हर्ष कुमार, प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, सेन्ट स्टीफन्स कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के निर्देशन में लिखा गया है। इसकी लेखिका यह घोषित करती है कि यह शोध उसका मौलिक कार्य है और शोध-कार्यों के रूप में इसका प्रस्तुतीकरण और प्रकाशन संपूर्णत: या अंशत: कहीं नहीं किया गया है।

हर्षकुमार: — निर्देशक

ललिता कुमारी जुनेजा — प्रस्तुतकर्त्री

6-9-84 — दिनांक

R. N. [illegible] 6.9.84
विभागाध्यक्ष

"प्राक्कथन"

"व्याप्तिनिर्णय :- एक अध्ययन" नामक इस लघु-शोध-प्रबन्ध में मैंने बौद्ध व न्याय-वैशेषिक तथा पूर्व मीमांसा दर्शनों के बीच हुए व्याप्तिविषयक विवाद की झलक दिखाने का लघु प्रयास किया है। ग्रीष्मकालीन अवकाश के अल्पकाल में मैंने अपने इस लघु-शोध-प्रबन्ध को सम्यक् दार्शनिक विचारों से भरपूर करने का यथासंभव प्रयास किया है। प्रमाण-शास्त्र के विकास में बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिकादि आस्तिक दर्शनों के विवाद पर जो अद्यावधि अध्ययन, शोधादि हुए हैं, वे प्रायः दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों तक ही सीमित रहे हैं। परवर्ती प्रज्ञाकर गुप्त, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति आदि की रचनाएँ अभी तक कुछ उपेक्षित सी रही हैं। उनमें अध्ययन, अनुवाद आदि की विशाल संभावनाएँ हैं। यद्यपि प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक रत्नकीर्ति के इस "व्याप्तिनिर्णय:" नामक निबन्ध पर कोई टीका भी उपलब्ध न हो सकी, तथापि अपने आदरणीय निर्देशक डा० हर्षकुमार जी के सहयोग तथा उनकी प्रेरणा से मुझे इस कार्य को करने में किसी भी बाधा का सामना नहीं करना पड़ा तथा मैंने यथाशक्य इस निबन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इसके लिए मैं अपने गुरुजी एवं निर्देशक डा० हर्षकुमार जी के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हूँ तथा सदैव उनकी ऋणी रहूँगी। प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबन्ध में मुख्य रूप से "व्याप्तिनिर्णय:" नामक निबन्ध की व्याख्या तथा तुलनात्मक दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन किया गया है, तथापि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उपेक्षा नहीं की गई है।

विद्यालय-स्तर पर "संस्कृत" विषय में रुचि बढ़ाने तथा उच्च-शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा देने का सारा श्रेय मेरे पूज्य गुरुजी "श्री मेवाराम कटारा "पङ्क" व्याख्याता, संस्कृत, राज० उ० मा० वि० अथाना, भरतपुर [राजस्थान]" को जाता है। तत्पश्चात् "दर्शन" के क्षेत्र में मेरी रुचि सर्वप्रथम "प्रो० रामचन्द्र द्विवेदी, विभागाध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर" एवं "डा० धाता भटनागर, रीडर, संस्कृत-विभाग, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर" के प्रयत्नों से हुई। अपने इन दोनों गुरुजन की प्रेरणा एवं समुचित अध्यापन से "दर्शन" के क्षेत्र में मेरी आगे बढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई।

इसके अतिरिक्त मुझे उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा देने में "डा० हरीरामाचार्य:, रीडर, संस्कृत-विभाग, राज० विश्व" एवं मेरे पितृतुल्य अध्यापक "श्री शिवसिंह कुशवाहा, प्रधानाध्यापक, राज० माध्य० विद्यालय, जमुपुरा, धौलपुर (राज०)" का भी बहुत हाथ रहा है। इसलिए अपने इस लघु-शोध-प्रबन्ध को लिखने में अप्रत्यक्षरूप से इन सभी गुरुजन का सहयोग समझते हुए, मैं इन आचार्यों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ तथा सदैव कृतज्ञ रहूँगी।

माता-पिता तथा अन्य पारिवारिक-जन का सहयोग तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है ही और वह मुझे मिला भी। इसलिए पारिवारिक-जन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मात्र औपचारिकता होगी।

इसके अतिरिक्त इस कार्य में मुझे "डा० वाचस्पति उपाध्याय, रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय" एवं "डा० सत्यपाल नारंग, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्व०" का भी अत्यन्त सहयोग मिला। अपने विभागाध्यक्ष "डा० रसिक बिहारी जोशी" से भी मुझे कार्य करने में प्रोत्साहन मिला। इसलिए इन गुरुजन के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने समुचित पथ-प्रदर्शन करके कार्य को पूर्ण कराने में यथासम्भव सहयोग दिया।

जी - 9, मुखराम-गार्डन
तिलक-नगर, नई दिल्ली,
110018.

निवेदिका

ललिता कुमारी जुनेजा

26.9.84

विषयानुक्रमणिका

"भूमिका"

रत्नकीर्ति से पूर्व बौद्ध न्याय :-

भगवान् बुद्ध (570 ई० पू० से 490 ई०पू० तक) ने चार आर्य सत्यों की खोज की थी- दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और निरोधोपाय"। इन चार आर्य सत्यों को उन्होंने लोगों को उनकी अपनी भाषा में समझाया था। जहाँ एक ओर इनकी शिक्षाओं में जीवन तथा जगत् की चर्चा थी, वहाँ दूसरी ओर "दर्शन" के सङ्केत भी थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म के साथ ही बौद्ध-दर्शन का भी बीजारोपण हो चुका था।

"न्याय" शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। वात्स्यायन ने "न्याय" शब्द का अर्थ देते हुए कहा है:- "प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना ही न्याय" है"।[1] एक अन्य स्थल पर इन्होंने बताया है कि प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव ही परम न्याय हैं :- "सोऽयं परमो न्यायः।" (न्या० भा० 1/1/1)। इस प्रकार "न्याय" शब्द का प्रयोग न्यायविद्या या तर्कविद्या के लिए होता है।

बुद्ध की शिक्षाओं में इस "न्याय" का सङ्केत मात्र मिलता है, किन्तु केवल सङ्केतों के आधार पर ही बौद्ध-न्याय का उद्भव उस काल से नहीं माना जा सकता। बौद्ध न्याय के प्रारम्भिक लेखकों के रूप में हम नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेय, असङ्ग, वसुबन्धु आदि लेखकों का नाम ले सकते हैं। इनके कार्यों में कतिपय अंशों में "न्याय" का विषय प्रतिपादित किया गया है, परन्तु सम्पूर्ण रूप से "न्याय" के विषयों पर कार्य इन्होंने कम ही किए।

---

1. "कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्।" (न्यायभाष्य)
न्यायदर्शनम्, 1/1/1, पृ० सं० 3, पंक्तिसं० 5-6.

तथापि इनमें से असङ्ग तथा वसुबन्धु ने न्याय-विद्या का अध्ययन कर प्रमाण-मीमांसा का विवेचन किया है। वसुबन्धु ने "न्याय" पर "तर्कशास्त्र" नामक निबन्ध लिखा। वसुबन्धु के विचारों ने आस्तिक नैयायिकों को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने अपने कार्यों में असङ्ग तथा वसुबन्धु की अत्यंत आलोचना की। फिर भी वसुबन्धु का न्याय-सम्बद्ध विवेचन अधिकांशत: वस्तुवादी न्याय-सम्प्रदाय के समान ही था, अत: दिङ्नाग ने वसुबन्धु के "प्रत्यक्ष" आदि के लक्षण में दोष दिखाये और बौद्धदर्शन की तत्वमीमांसा के अनुकूल बौद्ध-न्याय का प्रणयन किया।

पाँचवीं सदी में किसी समय भारतीय-दर्शन के आकाश में एक जाज्वल्यमान तारे के रूप में "दिङ्नाग" का उदय हुआ। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। उत्तरकालीन सारे भारतीय दर्शन पर, विशेषकर न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा के "बाह्यार्थवाद" पर उनकी अमिट छाप है। जिस प्रकार वेदान्त के अद्वैतवाद को नागार्जुन से स्फूर्ति और प्रेरणा मिली, उसी प्रकार भारतीय बाह्यार्थवाद को दिङ्नाग से, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि "अद्वैतवाद" ने थोड़ा सा उलट-पलट कर नागार्जुन की विचार-पद्धति को स्वीकार किया, परन्तु इधर दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक के रूढ़ "बाह्यार्थवाद" पर जो आक्रमण किया, उसके उत्तर और प्रत्युत्तर रूप लगभग पाँच सौ वर्षों के लगातार संघर्ष में ही भारतीय बाह्यार्थवाद की रूपरेखा तैयार हुई। दिङ्नाग ने विशेषकर न्याय के "वात्स्यायन-भाष्य" पर आक्रमण किया था, जिसका उत्तर उद्योतकर ने "न्यायवार्तिक" में दिया। इसी बौद्ध-न्याय-शक्ति ने भारत के कतिपय सबसे महान् दार्शनिक जैसे उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मोत्तर, वाचस्पति-मिश्र, जयन्त, श्रीधर और उदयन आदि को जन्म दिया।

दिङ्नाग का मुख्य-ग्रन्थ, जिसने भारतीय दर्शन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी "प्रमाणसमुच्चय" है। इसके अतिरिक्त भी दिङ्नाग के अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें से अधिकांश चीनी और तिब्बती भाषा के अनुवादों में विद्यमान हैं।

→ और कई मूल संस्कृत रूप में भी प्राप्त हो चुके हैं। दिङ्नाग का "न्याय-प्रवेश" संस्कृत रूप में श्रीयुत ध्रुव द्वारा सम्पादित और टिप्पणीयुक्त प्रकाशित हो चुका है। यह "न्याय" का ग्रन्थ है। दिङ्नाग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिसमें बाह्य पदार्थों का खण्डन किया गया है, "आलम्बनपरीक्षा" है। यह भी प्रकाशित हो चुका है। दिङ्नाग का समय 450-520 ई० माना गया है। दिङ्नाग तक स्थिति यह रही कि सर्वसामान्य हेतुविद्या का आश्रय लेकर बौद्ध अपने मंतव्यों की स्थापना वाद-विवाद में करते रहे, किन्तु स्वतन्त्र बौद्धदृष्टि से हेतुविद्या का निरूपण करने का प्रयत्न नहीं हुआ। दिङ्नाग के -"प्रमाण-समुच्चय" से पूर्व जितने भी बौद्ध-न्याय के ग्रन्थ लिखे गये, उनमें प्रमाण विचार गौण है या बिल्कुल नहीं, किन्तु वाद-विवाद से सम्बद्ध विषयों का ही अधिक निरूपण है। दिङ्नाग ही सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने प्रमाणशास्त्र को पृथक शास्त्र का रूप प्रदान किया है। अतएव भारतीय प्रमाण-शास्त्र के पिता दिङ्नाग हैं। इस प्रकार दिङ्नाग जब भारतीय-प्रमाण-शास्त्र के पिता हैं, तब बौद्धों के प्रमाण-शास्त्र के वह पिता या प्रस्थापक बनें, इसमें तो कोई सन्देह को स्थान ही नहीं।

दिङ्नाग के पश्चात् "न्याय" पर क्रमबद्ध बौद्ध लेखकों में परमार्थ, शङ्करस्वामिन्, धर्मपाल आदि के भी नाम आते हैं। धर्मपाल के पश्चात् दिङ्नाग का उत्तराधिकारी, जो कि दिङ्नाग के समान ही महान् प्रतिभाशाली था, वह "धर्मकीर्ति" है। दिङ्नाग नवीन न्यायवादी बौद्धों के सम्प्रदाय का प्रवर्तक है, परन्तु उसे दृढ़ आधार पर स्थापित करने का गौरव धर्मकीर्ति को ही प्राप्त है। धर्मकीर्ति दिङ्नाग के बहुत समय बाद सातवीं शताब्दी में हुए। उस समय दर्शन का प्रत्येक सम्प्रदाय जागृत हो उठा तथा धर्मकीर्ति के तर्कों से दर्शन जगत् में सर्वत्र हलचल मच गई। आस्तिक दार्शनिकों ने अपने दर्शन को नई आकृति प्रदान की तथा उन्होंने अपनी पुरानी मूल पुस्तकों में ऐसे नये अर्थ निकाले, जिनके बारे में संभवतः उनके लेखकों ने सोचा भी नहीं था।

धर्मकीर्त्ति के कार्यों में "प्रमाणवार्त्तिक" दिङ्नाग के "प्रमाणसमुच्चय" पर आधारित होने पर भी महत्ता में मूल पुस्तक से आगे बढ़ गई तथा आगे आने वाले विशाल साहित्य का आधार बनी। धर्मकीर्त्ति का ग्रन्थ "प्रमाणवार्त्तिक" मनोरथनन्दिकृत वृत्तिसहित श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित होकर "बिहार-रिसर्च-सोसाइटी" के जर्नल में प्रकाशित हो चुका है। साथ ही "प्रमाणवार्त्तिक" के एक भाग पर प्रज्ञाकर गुप्त की "वार्त्तिकालङ्कार" नामक टीका भी प्रकाशित हो चुकी है। धर्मकीर्त्ति का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "हेतुबिन्दुविनिश्चय" है। इसमें "प्रमाणवार्त्तिक" के विषय को संक्षिप्त रूप में दिया है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जो कि दिङ्नाग-सम्प्रदाय को समझने में इस समय हमारा सबसे बड़ा सहायक है, धर्मकीर्त्ति का "न्यायबिन्दु" है। प्रमाण-शास्त्र के जब अनेक ग्रन्थ बन गये, तब परिनिष्ठित सिद्धान्तों का ही संक्षेप में प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हो, यह स्वाभाविक है। आचार्य धर्मकीर्त्ति ने "न्यायबिन्दु" लिखकर उसी आवश्यकता की पूर्त्ति की है। यही अकेला ग्रन्थ है, जिसका ठीक-ठीक सम्पादन होकर अनुवाद भी हो चुका है। "न्यायबिन्दु" धर्मोत्तर की टीका सहित बहुत पहले पीटर्सन द्वारा सम्पादित होकर कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ था। श्चेरबात्स्की द्वारा सम्पादित, धर्मोत्तर टीका सहित "न्यायबिन्दु" का एक विशेष संस्करण रूस में छप चुका है। और "बुद्धिस्ट-लॉजिक" की द्वितीय जिल्द में श्चेरबात्स्की द्वारा "न्यायबिन्दु" का अंग्रेजी अनुवाद विस्तृत और अर्थप्रकाशक टिप्पणियों सहित छप चुका है। दुर्भाग्य की बात है कि "न्यायबिन्दु" का रूसी संस्करण और अनुवाद दोनों ही इस समय भारत में अप्राप्य हैं। धर्मोत्तर के अतिरिक्त "न्यायबिन्दु" का टीकाकार "विनीतदेव" भी था। उसका ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है। धर्मकीर्त्ति ने उद्योतकर, कुमारिल आदि आस्तिक दार्शनिकों की समालोचना करके बौद्ध प्रमाण-शास्त्र की भूमिका को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने केवल आस्तिक दार्शनिकों की ही आलोचना नहीं की, अपितु स्वयं दिङ्नाग की भी समालोचना कुछ गौण विषयों में की।

धर्मकीर्ति के पश्चात् देवेन्द्रबोधि, शाक्यबोधि, विनीतदेव, जिनेन्द्रबोधि, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध नैयायिक हुए। इनमें से शान्तरक्षित का "तत्त्वसंग्रह" बौद्धन्याय पर अत्यंत महत्तवपूर्ण कार्य है। कमलशील ने "तत्त्वसंग्रह" पर टीका लिखी। "तत्त्वसंग्रह" की पंक्तियों की व्याख्या करते हुए इसने उन लेखकों के नाम भी दिए हैं, जिनके विचारों का शान्तरक्षित ने कारिकाओं में उल्लेख किया है, लेकिन उनके नामों का उल्लेख नहीं किया। इसके बाद कल्याणरक्षित, धर्मोत्तराचार्य, अर्चट, चन्द्रगोमिन्, प्रज्ञाकर गुप्त, जेतारी, दुर्वेक मिश्र, जिन आदि बौद्ध दार्शनिकों के नाम आते हैं। इनमें से धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के "न्यायबिन्दु" पर विस्तृत टीका "न्यायबिन्दुटीका" लिखी तथा दुर्वेक मिश्र ने इस टीका पर "धर्मोत्तरप्रदीप" नामक उपटीका लिखी। यह उपटीका अभी "बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय" के श्री दलसुखभाई मालवानिया" द्वारा सम्पादित हुई है तथा के0 पी0 जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट पटना से प्रकाशित हुई है। "धर्मोत्तरप्रदीप" अत्यंत सरल भाषा में निबद्ध उपटीका है। दार्शनिक पुस्तकों में इतनी सरल रीति से शायद ही कोई ग्रन्थ लिखा गया हो। लेखक ने सामान्य शब्दों को भी अत्यंत सरल शब्दों में स्पष्ट किया है। इसके बाद "जिन" नामक बौद्ध नैयायिक का भी नाम आता है, जिसने "प्रमाणवार्तिकालङ्कारटीका" नामक विस्तृत उपटीका लिखी।

इसके पश्चात हम उस काल पर आते हैं, जो कुछ अंधकारमय प्रतीत होता है और उस समय का हमारा ज्ञान पूर्ण निश्चयात्मक नहीं है, लेकिन हमारे विद्वानों की खोजों से यह सिद्ध होता है कि "उदयन" तक पहुँचने से पहले ही हमें दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण बौद्ध विद्वानों के नाम मिलते हैं :- ज्ञानश्रीमित्र तथा उनका शिष्य रत्नकीर्ति, जिसने तर्कशास्त्र को बहुत अधिक योगदान दिया है। विश्वस्त तिब्बती साक्ष्यों के अनुसार प्रो0 डी0 सी0 भट्टाचार्य ने इन दो लेखकों को ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रखा है। डा0 सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने रत्नकीर्ति का समय 940-1000 ई0 माना है, जबकि डा0 उमेश मिश्र ने इन्हें ग्यारहवीं शताब्दी में रखा है।

ज्ञानश्रीमित्र, जो रत्नकीर्ति के गुरु माने जाते हैं, उन्होंने बारह निबन्ध लिखे, जो कि ज्ञानश्रीमित्र निबन्धावली" नाम से, एक स्थान पर प्रो० अनन्तलाल ठाकुर द्वारा सम्पादित किए गए हैं। रत्नकीर्ति ने अपने कुछ निबन्ध ज्ञानश्री के निबन्धों से सम्बद्ध लिखकर, उनके निबन्धों को समझाने में सहायता की है। ज्ञानश्रीमित्र के बारह निबन्ध इस प्रकार हैं :-

क्षणभङ्गाध्याय, व्याप्तिचर्चा, भेदाभेदपरीक्षा, अनुपलब्धिरहस्यम्, सर्वशब्दाभावचर्चा, अपोहप्रकरणम्, ईश्वरवादः, कार्यकारणभावसिद्धिः, योगिनिर्णयप्रकरणम्, अद्वैतबिन्दुप्रकरणम्, साकारसिद्धिशास्त्रम्, साकार संग्रह सूत्रम् ।

ज्ञानश्रीमित्र की लेखन शैली अत्यंत सरल और स्पष्ट है, तभी तो विषय की कठिनता होने पर भी विद्वानों के लिए ये निबन्ध मनोहर हो गए। इन निबन्धों के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि ज्ञानश्री ने विभिन्न शास्त्रों का गहन अध्ययन कर रखा था। अपने निबन्धों में कहीं-कहीं उनकी भाषा काव्यात्मक भी हो गई है। ज्ञानश्री के वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी नैयायिक हैं। इन्होंने न केवल वाचस्पति-मिश्र के मत का, अपितु अन्य आस्तिक नैयायिकों के मत का भी खण्डन किया है, जैसे शङ्कर, भासर्वज्ञ, त्रिलोचन आदि।

रत्नकीर्ति :-

रत्नकीर्ति नामक बौद्ध-नैयायिक के मूल कार्यों में अधिकांश तिब्बत में सुरक्षित हैं तथा उनकी फोटो-प्रति अब "बिहार रिसर्च सोसाइटी" में जमा है। रत्नकीर्ति के कुछ टुकड़े-टुकड़े कार्य काफी समय से "बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज़" में "सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रैक्ट्स" शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इसमें रत्नकीर्ति के केवल तीन निबन्ध शामिल हैं। :- अपोहसिद्धिः तथा दो क्षणभङ्गसिद्धिः -अन्वयात्मिका और व्यतिरेकात्मिका। प्रो० अनन्तलाल ठाकुर ने "तिब्बतन संस्कृत वर्क्स सीरीज़" में एक खण्ड का सम्पादन किया है तथा उसे "रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः" नाम दिया है, जिसमें रत्नकीर्ति के सभी क्रमशः प्राप्त कार्य हैं। ये कार्य हैं:- सर्वज्ञसिद्धिः, ईश्वरसाधनदूषणम्, अपोहसिद्धिः, क्षणभङ्गसिद्धिः-अन्वयात्मिका, क्षणभङ्गसिद्धिः—व्यतिरेकात्मिका, प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्, व्याप्तिनिर्णयः, स्थिरसिद्धिदूषणम्, चित्राद्वैतप्रकाशवादः तथा सन्तानान्तरदूषणम्। ये सभी निबन्ध "न्याय" के विषय से सम्बद्ध हैं, चाहे इनकी विषय-वस्तु सीधी "न्याय" के विषय से सम्बद्ध न हो

जैसे :-

स्थिरसिद्धिदूषणम्, सर्वज्ञसिद्धि:, ईश्वरसाधनदूषणम्, क्षणभङ्गसिद्धि: और चित्राद्वैतप्रकाशवाद: आदि। "अपोहसिद्धि:" में लेखक शब्द-बोध के विषय में बताते हैं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से यह निश्चित न्याय के विषयों से भी सम्बद्ध है। दो क्षणभङ्गसिद्धियों में रत्नकीर्ति जगत् की क्षणिकता की अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्धि करते हैं। "सर्वज्ञसिद्धि:" लेखक का दूसरा निबन्ध है, जिसमें लेखक बुद्ध के सर्वज्ञत्व के अस्तित्व को सिद्ध करता है। "ईश्वरसाधनदूषणम्" रत्नकीर्ति का प्रथम निबन्ध है, जिसमें आस्तिक नैयायिकों के "ईश्वर" के अस्तित्व को सिद्ध करने में दिए गए तर्कों की आलोचना की गई है। "स्थिरसिद्धिदूषणम्" में रत्नकीर्ति ने स्थैर्य के अस्तित्व को नकारा है तथा आस्तिक नैयायिकों के स्थिरता संबंधी सभी प्रमाणों का खण्डन किया है। साथ ही यह सिद्ध किया है कि बौद्ध "प्रवाह के नियम" के अनुयायी हैं। "चित्राद्वैतप्रकाशवाद" में लेखक ने विभाजन के बीच एकता स्थापित की है। "प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्" में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि वास्तव में ज्ञान के साधन (प्रमाण) दो ही, प्रत्यक्ष तथा अनुमान हैं। इसके अलावा आस्तिकों के अन्य सभी प्रमाणों का इसमें खण्डन किया गया है। अपने निबन्ध "सन्तानान्तरदूषणम्" में यह प्रतिपादित किया है कि बौद्ध "सन्तान" (धारा-प्रवाह) के अलावा अन्य किसी निरन्तर स्थिर वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

व्याप्तिनिर्णय:, जिसका कि हमें अध्ययन करना है, इस निबन्ध में रत्नकीर्ति ने व्याप्ति की परिभाषा "भूयोदर्शनगम्या" का खण्डन किया है तथा व्याप्ति के संबंध में "तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक व्याप्ति" का बौद्ध-मत स्थापित किया है। ऐसा करते हुए लेखक ने काशिकाकार, त्रिलोचन, वाचस्पति, भट्टप्रभव: तथा मीमांसक वार्तिककार के विचारों का उल्लेख किया है। इस निबन्ध में रत्नकीर्ति ने "व्याप्ति" के विषय में नैयायिकों, वैशेषिकों तथा पूर्व-मीमांसकों के विचारों को उद्धृत करते हुए, उनका खण्डन करके, अपने मत को प्रतिपादित किया है, अत: हमें रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती नैयायिकों, वैशेषिकों तथा पूर्वमीमांसकों का ज्ञान भी अपेक्षित है :-

रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती नैयायिक-वैशेषिक एवं मीमांसक:-

भारत में न्याय-दर्शन का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस समय का न्यायदर्शन पूर्णतया अक्षपाद गौतम के "न्यायसूत्र" पर आधारित है। इनका काल ई0 पू0 पाँचवीं शताब्दी है। इसके बाद "न्यायसूत्र" पर वात्स्यायन नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने "न्यायभाष्य" लिखा, जो कि "न्यायसूत्र" पर आजउपलब्ध भाष्यों में सर्वप्राचीन भाष्य है। प्राचीन "न्याय" पर हुए कार्यों में वात्स्यायन का भाष्य सबसे अधिक कठिन है। इसके पश्चात् छठी शताब्दी ई0 पू0 उद्योतकर नामक नैयायिक हुए, जिन्होंने "न्यायभाष्य" पर "न्यायवार्तिक" लिखा। उद्योतकर का "न्यायवार्तिक" को लिखने का उद्देश्य यह था कि उस समय आस्तिक तथा नास्तिक नैयायिकों के बीच काफी बौद्धिक संघर्ष था। यद्यपि कई महान् आस्तिक नैयायिक थे, परन्तु यह एक सत्य है कि बौद्धों की आलोचनात्मक और उच्चतर तर्क-शक्ति के आगे न्याय-दर्शन की स्थिति को बनाये रखने के लिए कोई विद्वान पर्याप्त न था। यह सम्पूर्ण काल आज तक भी अंधकारमय प्रतीत होता है, क्योंकि उस काल के कई कार्य अभी भी भारत के कुछ अज्ञात भागों में लुप्त हैं या सदैव के लिए लुप्तप्राय: हो गए हैं। ऐसे समय में उद्योतकर ने वात्स्यायन के "न्यायभाष्य" पर, न्याय के स्थिर तत्त्वों को, दिङ्नाग व अन्य बौद्धों की गलत व्याख्याओं तथा प्रहारों से बचाने के लिए, "न्यायवार्तिक" लिखा। उद्योतकर के "वार्तिक" में बौद्ध-साहित्य से कई उद्धरण तथा सन्दर्भ हैं। अपने "वार्तिक" में कई स्थानों पर इन्होंने वात्स्यायन से भिन्न भी मत दिया है तथा अपनी व्याख्या के समर्थन में तर्क भी दिए हैं। उद्योतकर के पश्चात् अविद्धकर्ण, प्रीतिचन्द्र, भाविविक्त, प्रशस्तमति, भासर्वज्ञ, तात्पर्याचार्य, नरसिंह आदि नैयायिकों का नाम मिलता है। तत्पश्चात् हम वाचस्पति मिश्र के गुरु "त्रिलोचन" पर आते हैं, जिनके मत को रत्नकीर्ति ने अपने "व्याप्तिनिर्णय:" निबन्ध में उद्धृत कर खण्डित किया है। ⟶

→ इन्होंने "न्यायभाष्य" अथवा "न्यायसूत्र" पर "न्यायमंजरी" नामक टीका लिखी, जो कि अब उपलब्ध नहीं है तथा "प्रकीर्णक" नामक एक कार्य भी त्रिलोचन ने किया। ज्ञानश्रीमित्र ने भी अपने कार्यों में "त्रिलोचन" का उल्लेख किया है।

त्रिलोचन के पश्चात् नवीं शताब्दी में ही इस देश के दर्शन के इतिहास में सबसे बड़ा नाम, जैसा कि डा० गोपीनाथ कविराज ने उल्लिखित किया है, त्रिलोचन के शिष्य वाचस्पति मिश्र का है। इन्होंने "दर्शन" के सभी क्षेत्रों में विस्तृत व गहन अध्ययन कर विद्वत्ता प्राप्त की तथा "सर्वतन्त्रस्वतन्त्र" कहे जाने लगे। इनके अतिरिक्त कोई भी विद्वान् इस योग्यता को प्राप्त न कर सका। वाचस्पति-मिश्र ने जिस भी विषय पर लिखा, पूर्ण विश्वास तथा निष्पक्षता के साथ लिखा। सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र द्वारा "पूर्वमीमांसा" पर किए गए कार्य "विधिविवेक" पर "न्यायकणिका" नामक टीका लिखी। उनका द्वितीय कार्य "ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा" है, यह उपलब्ध नहीं है। इसके अलावा इनके कार्य तत्त्वबिन्दु, न्यायसूचीनिबन्ध, न्यायवार्तिक पर "तात्पर्यटीका", सांख्यकारिका पर "तत्त्वकौमुदी" टीका, योगसूत्र पर व्यास के "योगभाष्य" पर तत्त्ववैशारदी" नामक टीका तथा "ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य" पर की गई टीका "भामती" हैं। वाचस्पति मिश्र का "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" को लिखने का उद्देश्य उद्योतकर की प्राचीन शिक्षाओं को, बौद्धों के गलत अर्थों से बचाना था। उनकी "न्याय-वार्तिकतात्पर्य-टीका" जिनसे भी साक्षात सम्बद्ध है :- सूत्र, भाष्य और वार्तिक, उन सभी से अपनी महत्ता के कारण, अधिक ख्याति को प्राप्त हुई। "तात्पर्यटीका" ने वास्तव में न्याय-दर्शन के पदार्थों को तथा "वार्तिक" के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई, कि वाचस्पति मिश्र "तात्पर्याचार्य" के नाम से न्याय-जगत में विख्यात हैं।

वाचस्पति-मिश्र के पश्चात् विश्वांक, विश्वरूप, जयन्त भट्ट, अध्ययन, सनातनी आदि आस्तिक नैयायिकों का वर्णन मिलता है। इनमें से जयन्त भट्ट ने "न्याय" पर "न्यायमंजरी" नामक कार्य किया। ये अत्यंत विद्वान व विख्यात आस्तिक नैयायिक थे। इनका एक अन्य कार्य "न्यायकलिका" भी है। "न्यायमंजरी" अत्यंत स्वतन्त्र, विस्तृत व स्पष्ट टीका है जो कि केवल न्याय-दर्शन के लक्षण-सूत्रों पर है। इसका प्रकाशन "विजयनगर, संस्कृत सीरीज़" तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज़" में हुआ है। न्यायकलिका" "सरस्वती भवन संस्कृत टैक्स्ट सीरीज़" में प्रकाशित हुई है।

इसके बाद हम रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती वैशेषिक-दर्शन के आचार्यों पर आते हैं। वैशेषिक-दर्शन के प्रमुख आचार्य कणाद, प्रशस्तपाद आदि रत्नकीर्ति से पूर्व के लेखक हैं। कणाद ने "वैशेषिक-सूत्र" लिखे तथा प्रशस्तपाद ने उन सूत्रों पर "भाष्य" लिखा, जो कि "प्रशस्तपादभाष्य" के रूप में स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित हुआ।

अब हम पूर्वमीमांसा अथवा मीमांसा-दर्शन पर आते हैं। मीमांसा-दर्शन का प्राप्त मूलभूत ग्रन्थ "मीमांसा-सूत्र" है, इसे "जैमिनी-सूत्र" भी कहा जाता है। दर्शन-जगत् में सूत्र-प्रणाली की उद्भावना का श्रेय "जैमिनी" को ही मिलना चाहिए, क्योंकि दर्शन सूत्र-साहित्य में सर्वप्रथम सूत्ररचना "जैमिनीसूत्र" ही है, जिनका अनुकरण अन्य सूत्रकारों ने किया। भर्तृमित्र, भवदास, हरि, उपवर्ष और वृत्तिकार मीमांसा-दर्शन के उन आचार्यों में से हैं, जिनकी व्याख्यायें मीमांसासूत्रों पर थीं, किन्तु वे अप्राप्य हैं।[1] इन आचार्यों में सर्वप्रथम "वृत्तिकार" हैं। इनके पश्चात् "शबरस्वामी" ने मीमांसा-सूत्रों पर "शबर-भाष्य" लिखा।

इसके पश्चात् दो अत्यंत विख्यात मीमांसकों के नाम आते हैं :- कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने माना है कि धर्मकीर्ति बौद्ध-दर्शन का अन्तिम चमकता हुआ तारा है।[2]

---

1. डा० राधाकृष्णन् :- इण्डियन फिलासाफी, वाल्यूम-2, पृ०सं० 876.

2. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री:- भारतीय दर्शन शास्त्र न्याय-वैशेषिक, पृ० सं० 65.

धर्मकीर्ति के समय में ही बौद्ध-धर्म पतनोन्मुख हो रहा था। उसके थोड़े ही दिन बाद सातवीं शताब्दीके अन्त या आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल और शङ्कर ने बौद्ध-धर्म पर तीव्र आक्रमण किया। बौद्धों के प्रमाणशास्त्र के विकास के साथ-साथ बौद्धेतरों में भी स्वतन्त्र-प्रमाण-शास्त्र का विकास होना अनिवार्य था। "मीमांसा" जैसे दर्शनों में, जहां "प्रमाण" की चर्चा सर्वथा गौण थी, वहां भी कुमारिल ने "श्लोकवार्तिक" लिखकर और प्रभाकर ने "बृहती" लिखकर प्रमाणविद्या को मीमांसक-दृष्टि से प्रतिष्ठित किया। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर दोनों लगभग समकालीन थे। यह माना जा सकता है कि कुमारिल प्रभाकर के गुरु थे, परन्तु प्रभाकर कुमारिल का अनेक सिद्धान्तों में विरोध करते थे, इसलिए कुमारिल ताने के रूप में उनको "गुरु" कहते थे और इसीलिए प्रभाकर का मत "गुरुमत" कहलाता है। कुमारिल का मत "भाट्ट-मत" कहलाता है।

जिस समय दिङ्नाग ने न्याय-वैशेषिक के "बाह्यार्थवाद" पर आक्रमण किया, उसका उत्तर उद्योतकर ने दिया। उसके बाद बौद्धों के विज्ञान-वाद और न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के "बाह्यार्थवाद" में कई शताब्दियों तक संघर्ष हुआ ; उस संघर्ष में उद्योतकर (जो छठी शताब्दी के अन्त) के बाद से वाचस्पति मिश्र (नवीं शताब्दी) तक न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने कोई महान् दार्शनिक उत्पन्न नहीं किया। इस बीच के समय में "बाह्यार्थवाद" की ध्वजा को पूर्वमीमांसा-सम्प्रदाय ने उठाये रखा। कुमारिल और प्रभाकर ने दिङ्नाग सम्प्रदाय पर जोरदार आक्रमण किया और उन्होंने "बाह्यार्थवाद" की पुष्टि में कतिपय ऐसे सिद्धान्तों को जन्म दिया, जो "बाह्यार्थवाद" के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस प्रकार यद्यपि थोड़े बहुत दार्शनिक विचार "शाबर-भाष्य" में भी पाये जाते हैं, परन्तु "मीमांसा" के क्षेत्र में दर्शन के विशेषकर ज्ञान संबंधी तत्वों को लाने का श्रेय कुमारिल और प्रभाकर को ही है।

कुमारिल ने "शाबर-भाष्य" पर टीका तीन ग्रन्थों द्वारा की। "मीमांसा" के पहले अध्याय का पहिला पाद "तर्कपाद" है, उस पर स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में कारिकाबद्ध लिखी गई कुमारिल की टीका का नाम "श्लोकवार्तिक" है। श्लोकवार्तिक" सर्वथा एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें कर्मकाण्ड और यज्ञ का वर्णन नहीं, प्रत्युत "प्रमाणवाद" की स्थापना में अधिकतर बौद्धों का खण्डन किया गया है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक के "शाबरभाष्य" पर की गई कुमारिल की व्याख्या का नाम "तन्त्रवार्तिक" है तथा शेष भाष्य पर कुमारिल ने संक्षिप्त टिप्पणियां की हैं, उनका नाम "टुप्टीका" है। कुमारिल के अनुयायी अनेक मीमांसा-लेखक हुए हैं, जिनमें से मुख्य मण्डनमिश्र, पार्थसारथि मिश्र और सोमेश्वर हैं। "श्लोक-वार्तिक" पर अनेक भाष्य लिखे गये।

दूसरी ओर प्रभाकर ने मीमांसा के "तर्कपाद" पर "बृहती" नामक टीका लिखी और उस टीका पर प्रभाकर के मतानुयायी शालिकनाथ ने "ऋजुविमला" नामक टीका लिखी तथा प्रभाकर-मत पर एक स्वतन्त्र निबन्ध "प्रकरणपंजिका" नामक लिखा। प्रभाकर-सम्प्रदाय के भी अन्य अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु कुमारिल सम्प्रदाय से न्यूनतर हैं। स्वर्गीय डा० गङ्गानाथ-झा ने "प्रभाकर स्कूल आफ मीमांसा" नामक मौलिक निबन्ध में प्रभाकर के सिद्धान्तों का बहुत उत्तम विवेचन किया है।

इस प्रकार रत्नकीर्ति से पूर्ववर्ती बौद्ध, नैयायिक-वैशेषिक तथा मीमांसक आचार्यों का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् अब हम संक्षेप से अपने "लघु-शोध-प्रबन्ध" में वर्णित विषय-वस्तु का मूल्यांकन करते हैं। "व्याप्तिनिर्णय: :- एक अध्ययन" नामक इस निबन्ध में रत्नकीर्ति के "व्याप्तिनिर्णय:" का अध्ययन किया गया है। "व्याप्ति" जो कि न्याय का एक विशेष पारिभाषिक-शब्द है तथा जिस पर न्याय-दर्शन की अनुमान-प्रक्रिया आधारित है, ⟶

→ उसी के सम्बन्ध में बौद्धमत तथा न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा के मतों का उल्लेख करते हुए, दोनों आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों के एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप तथा उनका समाधान देते हुए अपने मत की पुष्टि, यही वह विषय वस्तु है, जो इस "लघु-शोध-प्रबन्ध" में वर्णित है। बौद्धों में, मुख्य रूप से दिङ्नाग से लेकर "प्रमाण-विद्या" का प्रचलन हुआ। "व्याप्ति" का स्वरूप क्या है ? "व्याप्ति" कैसे निश्चित की जाती है ? आदि ऐसे प्रश्न हैं, जिनके विषय में बौद्ध तथा नैयायिक-मीमांसकों के पृथक्-पृथक मत हैं और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए दोनों अपने मत से टस से मस नहीं हो सकते। इसलिए दोनों, आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन, एक दूसरे के मत को खण्डित करते हैं तथा अपने मत की पुष्टि में अनेक तर्क देते हैं। "व्याप्ति" को बौद्ध स्वभाव-प्रतिबन्ध या अविनाभाव-नियम कहते हैं। "व्याप्ति" को नैयायिक "भूयोदर्शनजन्या" मानते हैं, जबकि बौद्ध "व्याप्ति" को तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक मानते हैं। बौद्धों के मत में कार्य को देखकर कारण का अनुमान लगाया जाता है अथवा दो वस्तुओं में अभेद होने पर हम एक को देखकर, दूसरी वस्तु का अनुमान लगा लेते हैं, जबकि नैयायिक-मीमांसक ऐसा नहीं मानते। वे "व्याप्ति-सम्बन्ध" को बार-बार दर्शन से जनित मानते हैं। इसे स्वाभाविक, निरुपाधिक सम्बन्ध मानते हैं। स्थूल रूप से यही वह विषय-वस्तु है, जो रत्नकीर्ति ने अपने "व्याप्ति-निर्णयः" निबन्ध में उल्लिखित की है। आस्तिक-मत को दिखाने के लिए रत्नकीर्ति ने त्रिलोचन, वाचस्पति मिश्र, कुमारिल भट्टादि के मतों को उद्धृत किया है तथा उनका खण्डन करके अपने मत (बौद्ध-मत) की पुष्टि की है।

==:==

"प्रथम अध्याय"

"दिङ्नाग-सम्प्रदाय में अनुमान-विवेचन" :-

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ "भारतीय दर्शन-शास्त्र: न्याय वैशेषिक"[1] में न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के इतिहास में तीन युग निम्न प्रकार से विभक्त किए हैं :-

1. प्रारम्भिक-युग (दिङ्नागप्राक्कालीन) - पाँचवीं शताब्दी तक
2. संघर्ष और विकास का युग (दिङ्नागोत्तरकालीन) पाँचवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक ।
3. ह्रास का युग (गङ्गेश युग) - बारहवीं शताब्दी से अब तक ।

इनमें से दिङ्नागोत्तरकालीन, जो कि संघर्ष और विकास का युग है, पाँचवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक का यह युग भारतीय-दर्शन का "स्वर्णयुग" कहा जा सकता है, जिसमें भारतीय-दर्शन के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विकास हुआ। इस युग में एक ओर दिङ्नाग सम्प्रदाय और दूसरी ओर बाह्यार्थवादी वैदिक दार्शनिक सम्प्रदायों (न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा) में लगातार संघर्ष चला, जिसके फलस्वरूप उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ और यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय की वर्तमान रूपरेखा उसी संघर्ष का फल है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले कतिपय महान् दार्शनिक दिङ्नाग के अतिरिक्त उद्योतकर, धर्मकीर्ति, कुमारिल, प्रभाकर, धर्मोत्तर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त, उदयन, श्रीधर, व्योमशिव, शान्तरक्षित, भासर्वज्ञ आदि हैं।

---

1. भारतीय दर्शन-शास्त्र: न्याय-वैशेषिक, पृ० सं० 105.

दिङ्‌नाग-सम्प्रदाय ने प्रमाण-विवेचन पर बहुत अधिक बल दिया है। दिङ्‌नाग ने अपने ग्रन्थ "प्रमाण समुच्चय" में प्रमाणों का विस्तृत विवेचल किया है। धर्मकीर्ति ने भी "प्रमाणवार्तिक" तथा "न्यायबिन्दु" आदि अनेक ग्रन्थों में प्रमाणों का ही विस्तृत वर्णन करते हुए बौद्ध-दर्शन के विचारों को स्पष्ट किया है। इसके अलावा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थों में बौद्ध-न्याय के प्रमाणादि की आलोचना की गई है, इस आलोचना में भी बौद्धों की प्रमाण विषयक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ा है।

वाचस्पति-मिश्र ने "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में प्रमाणों का स्वरूप निरूपण करते हुए बौद्ध-दर्शन की प्रमाणविषयक मान्यताओं आदि को उद्धृत कर, उनका खण्डन किया है। "न्यायकणिका" में भी बुद्ध की सर्वज्ञता की आलोचना करते हुए प्रासङ्गिक रूप से बौद्ध-दर्शन के प्रमाणों का विवेचन किया है। ये दोनों ही ग्रन्थ बौद्ध-दर्शन के प्रमाण-निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

बौद्ध-दर्शन का विकास चार सम्प्रदायों के रूप में हुआ था और ये सम्प्रदाय हैं :- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद। ये चारों सम्प्रदाय एक दूसरे से उतने ही विचारों में पृथक् हैं, जैसे न्याय, सांख्य आदि आस्तिक-दर्शन। इनमें से वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक भूत-भौतिक तथा चित्त-चैत्त आदि बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते हैं, अतः इनके मत में प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की यथार्थता किसी प्रकार बन सकती है, किन्तु विज्ञानवादी तथा शून्यवादी के मत में प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार कल्पित है। इसकी परमार्थतः सत्ता नहीं, केवल लोक-यात्रा के निर्वाह के लिए ही प्रमाण-प्रमेय-भाव स्वीकार किया जाता है।

धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ "प्रमाणवार्तिक" में "प्रमाण" का लक्षण इस प्रकार दिया है :-

" प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् ; अर्थक्रिया स्थितिः ।
अविसंवादनम् ; शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥ "

[प्रमाणवार्तिक - 1/3, पृ0 सं0 3-4]

अर्थात् वह ज्ञान "प्रमाण" है, जो अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता है, अर्थात जिस ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का बोध कराया जाता है, यदि वह उसी रूप में प्राप्त हो जाती है, तो वह ज्ञान "प्रमाण" कहलाता है। इसी प्रकार धर्मोत्तर ने भी "न्यायबिन्दुटीका" में प्रमाण-विवेचन किया है :-

"अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् । लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते । तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादकमुच्यते । ...."

[न्यायबिन्दुटीका, 1/1, पृ0 सं0 10]

वाचस्पति मिश्र "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में "प्रमाण" के लक्षण पर विचार करते हुए लिखते हैं :-

" केचिदाहुः, अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति । विषयसारूप्यं साकारस्य विज्ञानस्येत्यन्ये । विज्ञानस्यैवानाकारस्यात्मानात्म प्रकाशनसामर्थ्यमित्यपरे । उपलब्धिसाधनमिति वृद्धाः ।"

[न्यायदर्शनम् , 1/1/1 , पृ0 सं0 34]

अर्थात् कुछ कहते हैं कि अज्ञात अर्थ का ज्ञापक "प्रमाण" कहलाता है। दूसरों का कथन है कि साकार विज्ञान का जो विषय के साथ सारूप्य है, वही "प्रमाण" है। अन्य कहते हैं कि निराकार विज्ञान का जो अपने स्वरूप [आत्मा] तथा अर्थ [अनात्म] को भासित करने का सामर्थ्य है, वही "प्रमाण" है। अनुभवी जनों [वृद्धों] का मत है कि ज्ञान का साधन ही "प्रमाण" है।

यहाँ प्रथम-मत "अज्ञात अर्थ का ज्ञापक" यद्यपि मीमांसक-मत माना जाता है, तथापि धर्मकीर्ति के अनुसार भी "अनधिगत" (अज्ञात) पद की सार्थकता है, जैसा कि "न्यायबिन्दुटीका" में आया है :-

"अत एव चानधिगतविषयं प्रमाणम् । "

(न्यायबिन्दुटीका, पृ० सं० ।।)

द्वितीय मत-सौत्रान्तिक-मत, तृतीय-वैभाषिक-मत तथा चतुर्थ न्याय-वैशेषिक मत है।

"प्रमाण" कितने प्रकार के होते हैं, इस विषय में भारतीय-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् मत हैं। चार्वाक केवल "प्रत्यक्ष" को ही "प्रमाण" मानता है। बौद्ध और वैशेषिक "प्रत्यक्ष" तथा "अनुमान" दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य-योग, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द तीन प्रमाण मानते हैं। "न्याय-दर्शन" इन तीन में "उपमान" को जोड़कर चार प्रमाण मानता है और प्रभाकर "अर्थापत्ति" सहित पाँच । कुमारिल भट्ट "अनुपलब्धि" (अभाव) को पृथक् प्रमाण मानते हुए छ: प्रमाण स्वीकार करते हैं। पौराणिक लोग इन छ: प्रमाणों में "सम्भव" और "ऐतिह्य" को जोड़कर आठ प्रकार के "प्रमाण" मानते हैं।

बौद्ध-दर्शन को दो ही "प्रमाण" स्वीकार्य हैं :- 1• प्रत्यक्ष 2• अनुमान ।

"न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में वाचस्पति-मिश्र लिखते हैं:-

" न चाभ्यामन्यत् प्रमाणमस्ति प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात् । अनन्तर्भावे वा प्रमाणत्वानुपपत्तेः । "

(न्यायदर्शनम्, 1/1/1, पृ० सं० 33)

" न्यायबिन्दु" में भी आया है :-

"द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् ।। 2 ।।" प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति ।। 3 ।।"

(" न्यायबिन्दुटीका 1/2 तथा 1/3)

दिङ्नाग सम्प्रदाय के अनुसार दो ही प्रमेय हैं:- 1• स्वलक्षण, 2• सामान्यलक्षण ।

इनमें से स्वलक्षण "प्रत्यक्ष" का विषय है तथा सामान्यलक्षण "अनुमान" का विषय है।[1] प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों का विषय ग्राह्य और अध्यवसेय के भेद से दो-दो प्रकार का है। "प्रत्यक्ष" का ग्राह्य विषय "स्वलक्षण" है तथा अध्यवसेय विषय "सामान्यलक्षण" है। "अनुमान" का ग्राह्य विषय सामान्य-लक्षण है तथा अध्यवसेय विषय "स्वलक्षण" है। दिङ्नाग-सम्प्रदाय में परमार्थ सत् वस्तु अर्थात् स्वलक्षण क्षण मात्र है। यह देश में विस्तार नहीं रखती और काल में स्थिरता नहीं रखती। जिस वस्तु के निकट अथवा दूर स्थित होने से ज्ञान के प्रतिभास (ग्राह्याकार होना) में (स्फुटता या अस्फुटता का) भेद होता है, वह (वस्तु) स्वलक्षण है। स्वलक्षण से भिन्न ज्ञान का विषय सामान्य लक्षण है।[2] वस्तु का अन्य सन्तानों में साधारणतः प्रतीत होने वाला रूप (लक्षण) ही सामान्यलक्षण है, अतः इसका अर्थ है-वस्तु का साधारण-रूप। इनमें से "स्वलक्षण" का ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है तथा "सामान्यलक्षण" का ग्रहण अनुमान द्वारा ही होता है। इसके विपरीत व्यवस्था अर्थात् अनुमान से कभी भी "स्वलक्षण" का ग्रहण तथा प्रत्यक्ष से कभी भी "सामान्य-लक्षण" का ग्रहण नहीं होता। इसी व्यवस्था को दार्शनिक-भाषा में "प्रमाण-व्यवस्था" के नाम से पुकारा जाता है। बौद्ध-दर्शन "प्रमाण-व्यवस्था" को ही मानता है। प्रमाण-व्यवस्था का तात्पर्य है :- "प्रमेय अर्थ में अनेक प्रमाणों का न जा सकना" (असंकरो व्यवस्थेति, न्या०भा० 1/1/3 न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 183)। अर्थात् एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का ग्राह्य नहीं हो सकता, यह मन्तव्य ही "प्रमाण-व्यवस्था" कहा जाता है।

---

1. तस्य विषयः स्वलक्षणम् ॥ 12 ॥ सोऽनुमानस्य विषयः ॥ 17 ॥ (न्यायबिन्दुटीका, प्रथम परिच्छेद)

2. न्यायबिन्दुटीका 1/13 तथा 1/16.

इस "प्रमाण-व्यवस्था" का सम्बन्ध प्रमाणों के ग्राह्य विषय से ही है, अध्यवसेय विषय से नहीं, क्योंकि एक प्रमाण का ग्राह्य विषय दूसरे का अध्यवसेय तो हो ही सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि बौद्ध-दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण का स्वरूप क्या है ? "प्रत्यक्ष" के लक्षण के विषय में जहाँ सभी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किए हैं, वहाँ बौद्धों में भी परस्पर इसके लक्षण के विषय में मतभेद है। धर्मकीर्ति ने "न्यायबिन्दु" में "प्रत्यक्ष" का लक्षण इस प्रकार किया है:-

"तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ।"

(न्यायबिन्दुटीका - 1/4)

अर्थात् कल्पनारहित तथा भ्रान्तिरहित ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।

उद्योतकर ने "न्यायवार्तिक" में दिङ्नाग के प्रत्यक्ष-सम्बद्ध लक्षण का यह रूप प्रस्तुत किया है :-

" दूसरों का मत है कि कल्पना रहित ज्ञान "प्रत्यक्ष" है। यह कल्पना क्या है ? नाम, जाति (आदि) की योजना ही कल्पना है। जो न नाम (संज्ञा) से कहा जाए, न जाति आदि से जिसका निर्देश किया जाए, ऐसा विषय के स्वरूप का अनुसरण करने वाला, विषय का व्यवस्थापक (परिच्छेदक) स्वसंवेद्य (जिसका अनुभव अपने द्वारा किया जाता है।) ज्ञान "प्रत्यक्ष" कहलाता है। " 1.

इसके बाद हम "अनुमान" पर आते हैं। "अनुमान" प्रमाण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण बौद्ध-दर्शन में इसका विशद विवेचन किया गया है। इस विवेचन में अनुमान का स्वरूप परिष्कृत होता गया तथा प्रतिपक्षियों (न्याय-वैशेषिकादि) के तर्कों के कारण भी बौद्ध-दर्शन में "अनुमान" का स्वरूप विशेषतः निखरता रहा।

---

1. न्यायदर्शनम् , 1/1/4, पृ० सं० 207.

उद्योतकर ने "न्यायवार्तिक" में वसुबन्धु के अनुमान-लक्षण को खण्डित करने हेतु "अपरे तु" कहकर इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :- "जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता, उसका दर्शन, उस को जानने वाले के लिए "अनुमान" होता है।"[1] अर्थात् जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता, वह नान्तरीय या नान्तरीयक कहलाता है, इसे ही अविनाभावी कहते हैं, जैसे धूम, अग्नि के बिना नहीं होता, अतः धूम, अग्नि का नान्तरीयक या अविनाभावी है। जो इस अविनाभावी सम्बन्ध को जानता है, वह जब कहीं धूम को देखता है, तो यही "अनुमान" है, इससे "अग्नि" की प्रतीति होती है"।

उद्योतकर[2] तथा वाचस्पति मिश्र[3] ने दिङ्नाग के अनुमान-लक्षण को बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है। अनुमिति का करण या हेतु दिङ्नाग के अनुसार त्रैरूप्य-सम्पन्न है। "त्रैरूप्य" का अर्थ है कि वही हेतु सद्हेतु है, जो इन तीनों रूपों से युक्त हो। :-

1. पक्ष में विद्यमान हो।
2. सपक्ष में विद्यमान हो।
3. विपक्ष में विद्यमान न हो।

जैसे "पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से।" यहाँ "धूम" अग्नि का अविनाभावी है। यह धूम पक्ष (पर्वत) में विद्यमान है, सपक्ष "पाकशाला" में भी विद्यमान है परन्तु विपक्ष (जलाशय) में नहीं है।

---

1. अपरे तु ब्रुवते - "नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति।"
न्यायदर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 300.
2. न्यायवार्तिक, न्यायदर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 300-301.
3. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायदर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 318-320.

रैन्डिल [1] का कथन है कि दिङ्नाग का त्रैरूप्य का सूत्र "प्रशस्तपादभाष्य" से आई हुई कारिका [2] के समानान्तर है। यह उस समय से सम्बन्ध रखता है, जब तक व्याप्ति के सिद्धान्त का विकास नहीं हुआ था। दिङ्नाग ने इसे व्याप्ति के सिद्धान्त से जोड़ दिया। [3] श्चेरबात्स्की का कथन है कि प्रथमतः वसुबन्धु ने हेतु के लिए इस प्रकार के तीन नियम बतलाये थे। उन्हें दिङ्नाग ने सुव्यवस्थित करके त्रैरूप्य-सम्पन्न हेतु का स्वरूप निर्धारित किया। [4] और धर्मकीर्ति ने इस हेतु-लक्षण को अधिक परिष्कृत करने के लिए संस्कृत-भाषा की एक विलक्षण पदावली का प्रयोग किया। [5] उन्होंने त्रैरूप्य के प्रत्येक पद के साथ "एव" शब्द का प्रयोग किया है ; [6] जैसे:- "लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव" यहाँ "एव" शब्द से अभिव्यक्त होता है कि अनुमेय (पर्वतादि पक्ष) में लिङ्ग (धूमादि) की अनुपस्थिति की सम्भावना भी नहीं है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार हेतु के तीन रूपों में "एव" शब्द का प्रयोग करने से उस त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु का परिष्कृत रूप निष्पन्न हो जाता है, जो दिङ्नाग को अभीष्ट था।

---

1. "फ्रैगमैंट्स फ्रॉम दिङ्नाग"
2. "यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
   तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।।"
   प्रशस्तपादभाष्य, पृ० सं० 562.
3. "फ्रैगमैंट्स फ्रॉम दिङ्नाग" - पृ० सं० 23.
4. "बुद्धिस्ट लॉजिक" वाल्यूम I, पृ० सं० 243.
5. "बुद्धिस्ट लॉजिक" वाल्यूम I, पृ० सं० 244.
6. त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् । " "न्यायबिन्दुटीका" 2/5, पृ० सं० 102.

धर्मकीर्ति के अनुसार त्रिरूपसम्पन्न लिङ्ग तीन प्रकार के ही होते हैं। ये तीन रूप हैं :- अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। इन तीनों में से दो (स्वभाव तथा कार्य) भावात्मक वस्तु के साधक हैं तथा एक (अनुपलब्धि) प्रतिषेध (अभाव) का साधक है।

अब प्रश्न उठता है कि त्रिरूपसम्पन्न हेतु से अनुमिति कैसे होती है ? इस विषय में वैसे तो लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने विवेचन किया है, परन्तु न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और बौद्ध-न्याय ने तो इस पर गंभीर विचार किया है। बौद्ध-दर्शन अनुमिति का जनक अविनाभाव नियम या प्रतिबन्ध को मानता है। इसी को न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा-दर्शन में "व्याप्ति-सम्बन्ध" कहा है। "अविनाभाव" से तात्पर्य है :- "जो जिसके बिना न रहता हो।" जैसे हेतु (धूम) कभी साध्य (अग्नि) के बिना नहीं रहता, अतः "धूम" का "अग्नि" के साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है। बौद्ध नैयायिक इस अविनाभाव को तादात्म्य मानते हैं तथा तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति पर आश्रित अथवा तदुत्पत्ति पर आश्रित अविनाभाव को ही अनुमिति का जनक मानते हैं। "तादात्म्य" का तात्पर्य है :- अभेद या स्वभाव। "तदुत्पत्ति" का तात्पर्य है :- कार्य-कारण-भाव।

वाचस्पति-मिश्र ने बौद्धों के इस मत को अपनी "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :-

" कुछ (दार्शनिक) तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति-निमित्तक अविनाभाव को अनुमान का अङ्ग (जनक) कहते हैं। (उनका कथन है) दो प्रकार का अर्थ है :- प्रत्यक्ष और परोक्ष। इनमें से जो बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को समर्पित करता है, वह "प्रत्यक्ष" है। वह स्वविषयक बुद्धि का जनक है, इसलिए उसके बिना बुद्धि अपने स्वरूप को न प्राप्त करती हुई उसकी सत्ता का निश्चय कराती है, यह मानना चाहिए। परोक्ष (अर्थ) तो बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को अर्पित करने में असमर्थ है, इसलिए उसका निश्चय नहीं होता (अयुक्ता प्रतिपत्तिः निश्चयो यस्य) ।

और, अतिप्रसङ्ग हो जाने {के भय} से अन्य को देखकर अन्य की कल्पना उचित नहीं, {हाँ} अविनाभाव-सम्बन्ध से अन्य {अर्थ} भी दूसरे {अर्थ} का गमक {बोधक} हो सकता है ; क्योंकि उसका जैसा स्वभाव-सम्बन्ध जाना जाता है {स्वभाव-सम्बन्ध से युक्त} वैसा ही {अन्य वस्तु की} सत्ता को वह सूचित करता है। किन्तु यह प्रतिबन्ध दर्शन-मात्र से नहीं निश्चित किया जाता, यदि ऐसा होगा, तो 'वह श्याम है, मैत्री का पुत्र होने से, दिखाई देने वाले मैत्री के पुत्रों के समुदाय के समान :', इस प्रकार का भी अनुमान हो जाएगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन हैं ही। इसलिए तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति-निमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है। जैसा कि {धर्मकीर्ति [1] ने} कहा है :- साध्य और साधन के सहभाव के नियामक कार्य-कारण-भाव से अथवा तादात्म्य रूप {एकात्मता, तद्रूपता} नियामक से अविनाभाव-नियम {स्वभाव-प्रतिबन्ध} होता है। {विपक्ष में} हेतु के अदर्शन मात्र से {अदर्शनात्} अविनाभाव का निश्चय नहीं होता और न {सपक्ष में} हेतु के दर्शन से {दर्शनात्} अविनाभाव का निश्चयहोता है।" [2]

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का कथन है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति का सिद्धान्त धर्मकीर्ति की नवीन उद्भावना है और यह धर्मकीर्ति की बौद्ध-दर्शन को एक नवीन देन है। [3]

---

1. " कार्यकारणभावाद् वा स्वभावाद् वा नियामकात् ।
   अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ।। " {प्रमाणवार्तिक, 3/31, पृ० सं० 269. }
2. "तथा हि केचिदविनाभावं .... दर्शनान्न न दर्शनात् । "
   न्याय दर्शनम्, 1/1/5, पृ० सं० 304.
3. "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी", वॉल्युम 1, पृ० सं० 156.

वाचस्पति मिश्र कृत उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध, अविनाभाव-नियम का ग्रहण दो प्रकार से मानते हैं :- एक तो कार्यकारणभाव (तदुत्पत्ति) से; जैसे धूम, अग्नि का कार्य है। वह अग्नि के बिना नहीं रह सकता, अतः धूम का अग्नि के साथ अविनाभाव नियम है, यह निश्चय होता है। दूसरे, तादात्म्य से अविनाभाव-नियम का निश्चय होता है। जैसे :- "शिंशपा होने से यह वृक्ष है।" यहाँ "शिंशपा" (वृक्ष विशेष) का वृक्ष विशेष से तादात्म्य है। शिंशपात्व, वृक्ष के बिना नहीं रह सकता, अर्थात् जब शिंशपा, एक वृक्ष ही है, तो जहाँ वृक्ष नहीं होगा, वहाँ शिंशपा कैसे हो सकता है ? अतः शिंशपात्व का वृक्षत्व के साथ अविना-भाव का नियम है। इस प्रकार कार्य-कारणभाव या तादात्म्य से होने वाला ही अविनाभाव होता है, जैसे कि "न्यायबिन्दुटीका" में आया है:-

" स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य ॥2/21॥"

" वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च ॥2/22 ॥"

बौद्धों का यह अविनाभाव-सम्बन्ध अपने स्वरूप के समान ही प्रतिबन्ध या स्वभाव-प्रतिबन्ध नाम धारण करता है। इस स्वभाव-प्रतिबन्ध के कारण ही एक वस्तु दूसरी की गमक या बोधक होती है।

अविनाभाव-नियम के पश्चात् हम अनुमान के "विषय" पर आते हैं। बौद्ध-दर्शन ~~के मत~~ के अनुसार अनुमान का विषय मानस है, बाह्य नहीं। दिङ्नाग के मत में बुद्धि-परिकल्पित "धर्म-धर्मि-भाव" से ही अनुमान-अनुमेय-भाव होता है, यह प्रकट करते हुए वाचस्पति मिश्र "तात्पर्यटीका" में कहते हैं:-

"दिङ्नाग के मत में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो अविनाभावी होकर हेतु हो। जैसा कि कहा है :- यह समस्त अनुमान तथा अनुमेय का व्यवहार बुद्धि द्वारा कल्पित धर्म और धर्मी के संबंध पर निर्भर है, यह बाह्य जगत् में वस्तु की सत्ता और असत्ता की अपेक्षा नहीं रखता "।[1]

---

1. " न हि दिग्नागस्य मते .... सदसत्त्वमपेक्षते, इति।"
न्यायदर्शनम्, 1/1/5, पृ0 सं0 326.

अनुमान का ग्राह्य विषय "सामान्य" है तथा अध्यवसेय "अर्थक्रियाक्षम-वस्तु" है। दिङ्नाग के मत में जब हम धूम से अग्नि का अनुमान करते हैं, तो "अग्निविशिष्ट देश" का अनुमान होता है। जैसा कि "तात्पर्यटीका" में वर्णन किया गया है :-

"यहाँ दिङ्नाग ने, धूम से अग्नि रूप अन्य धर्म का अनुमान होता है अथवा अग्नि तथा देश (पर्वतादि) के सम्बन्ध का अनुमान होता है-इसको दोष युक्त सिद्ध करके यह समर्थन किया है कि अग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है।"[1]

वैशेषिक और बौद्ध तर्क-शास्त्र दोनों ने ही अनुमान के स्पष्ट रूप से दो भेद किए हैं :- 1. स्वार्थानुमान 2. परार्थानुमान।

ये दोनों भेद न्याय-सूत्र और न्याय-भाष्य में स्पष्टतया प्रतीत नहीं होते। "न्यायबिन्दुटीका" के आधार पर कीथ तथा रेन्डिल यह मानते हैं कि स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान में स्पष्ट भेद करने वाले दिङ्नाग ही थे।[2]

बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान-वाक्य के केवल दो ही अवयव माने जाते हैं:- हेतु तथा दृष्टान्त।

वसुबन्धु ने न्याय-वाक्य के तीन अवयव माने थे :- प्रतिज्ञा (पक्ष), हेतु, और दृष्टान्त। दिङ्नाग ने भी इन तीनों का विवेचन किया था, किन्तु स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया कि न्याय-वाक्य के कितने अवयव होते हैं। धर्मकीर्ति ने यह स्पष्ट किया है कि दिङ्नाग के मतानुसार पक्षवचन (प्रतिज्ञा) साधन-वाक्य का अङ्ग नहीं है। ⟶

---

1. दृष्टव्य :-" अत्र दिग्नागेन .... गमयिष्यति ।। इति।"
न्यायदर्शनम् , 1/15, पृ0 सं0 319-320.

2. " बुद्धिस्ट लाजिक", वाल्यूम 1, पृ0 सं0 290.

→ सम्भवत: इसी हेतु वाचस्पति मिश्र ने यह प्रकट किया कि धर्मकीर्ति को साधनवाक्य के दो अवयव ही अभीष्ट थे- हेतु और दृष्टान्त । श्चेरबात्स्की का कथन है कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के मतानुसार न्याय-वाक्य के वास्तविक अवयव दो ही थे:- व्याप्ति और पक्षधर्मता । [1]

बौद्धों की प्रमाण-सम्बद्ध मान्यताओं के ज्ञान के पश्चात् अब प्रश्न उठता है कि उनकी ये "प्रमाण-मान्यतायें" किस विशेष आधार पर आधारित हैं ? यद्यपि "प्रमेय" के ज्ञान हेतु "प्रमाण" का ज्ञान अपेक्षित होता है, तथापि "प्रमाण" के सम्बन्ध में बौद्धों के इस प्रकार के विचार क्यों हैं ? यह जानने के लिए हमें कुछ हद तक उनकी "तत्वमीमांसा" पर भी दृष्टि डालनी पड़ती है। बौद्धों के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त क्षणभङ्गवाद, अनात्मवाद, अपोहवाद, प्रतीत्य समुत्पाद आदि हैं।

"सर्वमनित्यम्" यह बौद्ध-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इसी अनित्यवाद को बौद्ध-दार्शनिकों ने क्षणिकवाद या क्षणभङ्गवाद का रूप दिया। बौद्ध-दार्शनिकों के अनुसार "क्षण" की पारमार्थिक सत्ता नहीं हो सकती ; क्योंकि अर्थक्रियाक्षमता ही सत्ता है और अर्थक्रियाक्षम केवल स्वलक्षण है, जिसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होता है। कल्पित काल की कलारूप "क्षण" में यह सम्भव नहीं है, अत: "क्षण" की पारमार्थिक सत्ता नहीं हो सकती।[2] वास्तव में "क्षणिक" शब्द का अर्थ है :- "एक क्षण रहने वाला" अर्थात् जो वस्तु केवल क्षण भर रहती है, वह "क्षणिक" कहलाती है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार जो सत् है, विद्यमान है, वह सब "क्षणिक" है।[3] →

---

1. "बुद्धिस्ट लाजिक", वाल्यूम I, पृ0 सं0 280.
2. द्रष्टव्य :-" वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन"-पृ0सं0 172.
3. "यत् सत् तत् क्षणिकम्.......... विश्राम्यति ॥ 2 ॥"
   ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली, क्षणभङ्गाध्याय, प्रथम पाद:, पृ0सं0 1.

→ एक काल में ही कारण का नाश हो जाता है और कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। वस्तुतः "क्षण" वास्तविक नहीं, काल्पनिक है, केवल संज्ञामात्र है।

बौद्ध-दर्शन का कार्य-कारण-भाव, कारण और कार्य का अनवरत प्रवाह क्षणिकवाद और शून्यवाद आदि सभी सिद्धान्त इनके एक विशिष्ट सिद्धान्त "प्रतीत्यसमुत्पाद" में समा जाते हैं। यह "प्रतीत्यसमुत्पाद" बौद्ध-दर्शन का सार है तथा अत्यंत गम्भीर विचार है। "प्रतीत्यसमुत्पाद" शब्द का अर्थ है:- "कारणों के होने पर कार्यों की उत्पत्ति।" बौद्ध-दर्शन के अनुसार समुदाय या सामग्री ही कारण है तथा "धर्म" शब्द बौद्ध-दर्शन में "तत्त्व" का समानार्थक है। इसी "प्रतीत्यसमुत्पाद" को ही "द्वादश-श्रृंखला चक्र" भी कहा गया है। वास्तव में संसार-चक्र को चलाने वाला यही सिद्धान्त है। इसमें बताया गया है कि इस संसार में दुःख का कारण "जन्म" है, "जन्म" का कारण "भव", "भव" का "उपादान, "उपादान" का "तृष्णा", "तृष्णा" का कारण "वेदना", "वेदना" का कारण "स्पर्श", "स्पर्श का "षडायतन" [छः इन्द्रियाँ], "षडायतन" का "नामरूप", "नामरूप का "विज्ञान", "विज्ञान का कारण "संस्कार" तथा "संस्कार" का "अविद्या" है। यही बारह अड्.गों वाला "प्रतीत्यसमुत्पाद" है। दुःख, गति का नाम है। इसका अर्थ है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ "क्षणिक" है। प्रत्येक पदार्थ का प्रत्येक क्षण नष्ट होना और उसकी जगह दूसरी वस्तु का आ जाना ही गति है। प्रत्येक पदार्थ "क्षणिक" है, इसका यह अर्थ भी निकलता है कि किसी पदार्थ में कोई स्थिर तत्त्व "आत्मा" या "द्रव्य" के रूप में नहीं, प्रत्येक पदार्थ "अनात्म" है।

जिस प्रकार बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-दर्शन का यह मूलभूत सिद्धान्त है कि "सर्वं दुःखम्" अर्थात् सब कुछ दुःखमय है, उसी प्रकार उसी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा यह भी सिद्धान्त है कि :- →

⟶ "सर्वमनात्मम्" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है, वह आत्मा से शून्य है। बौद्ध, वैदिक दर्शनों के समान ज्ञान-धारा के अतिरिक्त, इस ज्ञान-धारा का आधाररूप कोई स्थिर आत्मा नहीं मानते। यह भी कहा जा सकता है कि रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार-इन पांच स्कन्धों से पृथक् "आत्मा" नाम की कोई वस्तु नहीं, यही "अनात्मवाद" है। "अनात्मवाद" के सिद्धान्त का वास्तविक अर्थ है - "अद्रव्य का सिद्धान्त"। "अद्रव्य-सिद्धान्त" का अर्थ यह है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती, जो समय की दृष्टि से स्थिरता रखती हो और देश की दृष्टि से विस्तार रखती हो। यथार्थ वस्तु समय की दृष्टि से लम्बाई में सब ओर से कटी हुई है तथा देश की दृष्टि से चौड़ाई में सब ओर से कटी हुई है अर्थात् वह एक बिन्दुमात्र है, जिसके कोई अवयव नहीं, अथवा जिसमें अनेक अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी और द्रव्य नहीं। कोई भी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय, चाहे अन्य दृष्टियों से वे एक दूसरे से कितने भी विरुद्ध हों, स्थिर और विस्तार युक्त द्रव्य को कदापि नहीं मानते।

इन सबके अलावा बौद्धों का एक मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त है:- "अपोहवाद"। न्याय-वैशेषिक दर्शन में वस्तुओं में समानता की प्रतीति हेतु जो "सामान्य" (जाति) नामक पदार्थ माना गया है, उसे बौद्ध नहीं मानते। बौद्धों के मत में समानता की प्रतीति किसी भावरूप (सत्) सामान्य के कारण नहीं होती, अपितु अभावरूप (निषेधात्मक) समानता के कारण होती है। उदाहरणार्थ - संसार की समस्त गायें एक दूसरे से भिन्न हैं। उनमें केवल यही समानता होती है कि वे सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणादि से युक्त होती हैं, दूध देना इत्यादि एक कार्य करती हैं तथा समान कारणों से उनकी उत्पत्ति होती है। ⟶

——> उनमें एक अभावात्मक समानता भी है। वह यह कि वे सभी "गायें" अन्य {अगौ} {अश्वादि पशुओं} से भिन्न हैं। इसे ही "अतद्व्यावृत्ति" कहा जाता है, जिसका अर्थ है :- उससे भिन्न {अतद्} की व्यावृत्ति अर्थात् निषेध। जैसे "गौ" शब्द द्वारा गौ से भिन्न {अश्वादि} की व्यावृत्ति । बौद्ध-दर्शन में इसे "अपोह" नाम से पुकारा जाता है। यही बौद्ध-दर्शन में समानता की प्रतीति का हेतु है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार, बौद्धों द्वारा ——> सम्मत क्षणिक स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से हो सकता है, क्योंकि स्वलक्षण की बाह्य सत्ता है। सामान्यलक्षण का इन्द्रियों से ग्रहण सम्भव नहीं, क्योंकि वह काल्पनिक है। अत: उसके ग्रहण का साधन एक अन्य प्रमाण अर्थात् "अनुमान" ही हो सकता है। सामान्यविषयक इस मान्यता के आधार मुख्य रूप से उपर्युक्त "अनात्मवाद" तथा "अपोहवाद" हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये ही सब बौद्ध-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिन पर बौद्ध-दर्शन का प्रमाण विवेचन आधारित है।

==x==

"द्वितीय अध्याय"

"न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसा में अनुमान-विवेचन" :-

न्याय-वैशेषिक दर्शन में चार प्रकार का "प्रमाण" माना गया है। "प्रमाण" का अर्थ है :- "प्रमाया: करणम् प्रमाणम् ।" "प्रमा" यथार्थ-ज्ञान को कहा है। यथार्थ-ज्ञान का "करण" (साधन) ही प्रमाण है। "प्रमाण" शब्द का निर्वचन "प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्" भी माना जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में "प्रमाण" के चार प्रकार निम्नलिखित माने गये हैं :-

1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान, 4. शब्द ।

ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ (वस्तु) के सन्निकर्ष से जो यथार्थ अनुभव उत्पन्न होता है, उसे "प्रत्यक्ष" ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के उत्पन्न करने में जो सबसे अधिक साधक हो, वही "प्रत्यक्ष-प्रमाण" है। "प्रत्यक्ष" के पश्चात् "अनुमान" होता है। जैसा कि कहा है :-

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ।" (न्यायसूत्र 1/1/5)

"अनुमान" शब्द "अनु" तथा "मान" शब्द से बना है। "अनु" का अर्थ है - "पीछे" तथा "मान" का अर्थ है - "ज्ञान" । अर्थात् "अनुमान", उस ज्ञान को कहते हैं, जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् होता है। किसी लिङ्ग (हेतु) के ज्ञान से उस लिङ्ग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना "अनुमान" कहलाता है। कहा भी है - अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम् । " अर्थात् जिस ज्ञान से किसी लिङ्ग को देखकर, परोक्ष अन्य वस्तु का ज्ञान किया जाता है, उसे "अनुमान" प्रमाण कहते हैं।

पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है उसे "उपमान" कहते हैं। अर्थात् जिस वस्तु से कोई पूर्व परिचय नहीं है, उसको अन्य वस्तु की उपमा से प्रत्यक्ष होने पर पहिचानना ही "उपमान" है।

आप्त-पुरुष के वाक्य को शब्द अर्थात् "शब्द-प्रमाण" कहते हैं। "आप्त" का तात्पर्य है -"यथार्थ वक्ता"। यथार्थ वक्ता तथा श्रुति से प्राप्त ज्ञान "शाब्द-ज्ञान" तथा इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन "शब्द-प्रमाण" है।

इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक दर्शन में अन्य कोई प्रमाण का प्रकार नहीं माना गया है तथा इनके अलावा जो मीमांसा आदि अन्य दर्शनों ने जो प्रमाण के प्रकार बताये हैं, उनका अन्तर्भाव भी ये इन्हीं चार प्रकार के प्रमाणों में कर देते हैं।

इन चारों प्रमाणों में से "अनुमान" प्रमाण का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न हो, वह "परोक्ष" कहलाती है। जिस चिह्न या प्रक्रिया के द्वारा "परोक्ष" वस्तु का ज्ञान हो, उसे "अनुमान" कहते हैं। हेतु या लिङ्ग के परामर्श के द्वारा परोक्ष वस्तु का ज्ञान होता है, इसलिए "लिङ्ग-परामर्श" को "अनुमान" कहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि "परामर्श" क्या है ? न्याय की अनुमान-प्रक्रिया यह है कि पाकशाला आदि में बार-बार अग्नि और धूम का सहचार देखकर, धूम का अग्नि के साथ नियत या स्वाभाविक सम्बन्ध है, यह ज्ञात हो जाता है। →

→ पाकशाला में जो धूमज्ञान है, वह "प्रथम" है। फिर वही व्यक्ति पर्वतादि में "धूम" को देखता है। यह "धूमज्ञान", द्वितीय" है। इसके पश्चात् धूम और अग्नि के सम्बन्ध का स्मरण होता है कि "जहाँ धूम होता है, वहाँ अग्नि होती है।" इस सम्बन्ध-स्मृति के साथ पर्वत के धूम-दर्शन को मिलाकर "अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध वाला धूम यहाँ है" यह ज्ञान होता है। यह धूमज्ञान "तृतीय" है। इसे ही "न्याय" में "परामर्श-ज्ञान" कहा जाता है तथा परामर्श-ज्ञान को ही अनुमान-प्रमाण कहते हैं, जो "अनुमिति" का जनक है। अतः हम यह कह सकते हैं कि न्याय में किन्हीं दो वस्तुओं (हेतु तथा साध्य) के सम्बन्ध-दर्शन के अनन्तर लिङ्गस्मृति आदि के क्रम से होने वाला ज्ञान ही "परामर्श" है तथा वही "अनुमान-प्रमाण" है।

इस "अनुमान" प्रमाण के "न्यायसूत्र" में तीन भेद बताये गये हैं:-
1. पूर्ववत् , 2. शेषवत् , 3. सामान्यतोदृष्ट ।

"कारण" से कार्य" के अनुमान को "पूर्ववत्" अनुमान कहते हैं, जैसे मेघ को जल से भरा देखकर "वृष्टि" का अनुमान "पूर्ववत्" अनुमान है। "कार्य" को देखकर "कारण" का अनुमान "शेषवत्" अनुमान है, जैसे नदी में होने वाली बाढ़ को देखकर वर्षा का अनुमान "शेषवत्" अनुमान है। तीसरा अनुमान "सामान्यतोदृष्ट" वहाँ होता है, जहाँ वस्तु विशेष की सत्ता का अनुभव न हो कर उसके सामान्य रूप का ही हमें परिचय प्राप्त होता है। जैसे :- सूर्य को प्रातः काल पूर्वदिशा में देखने के पश्चात् सायंकाल को पुनः पश्चिम दिशा में देखकर "सूर्य में गति" का अनुमान "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान है। "पूर्ववत्" तथा "शेषवत्" अनुमान की एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है। →

⟶ अन्वयमुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान "पूर्ववत्" तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान "शेषवत्" कहलाता है। "शेषवत्" का इन दो अर्थों के अलावा एक अन्य अर्थ भी शास्त्रकारों ने किया है :-

"प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः ।"

अर्थात् सम्भावितों का प्रतिषेध किए जाने पर, अन्य सम्भावित पदार्थ के न रहने पर, जो बच जाए, उसे "शेष" कहते हैं। इस "शेष" के द्वारा जो अनुमान किया जाए, वह "शेषवत्" अनुमान कहा जाता है। जैसे :- विशेष गुण होने के कारण "शब्द", काल, दिक् तथा मन में नहीं है। श्रोत्रग्राह्य होने के कारण "शब्द", क्षिति, जल, तेज, वायु, तथा आत्मा का विशेष गुण नहीं हो सकता। शेष रहा "आकाश", नवम द्रव्य कोई दूसरा है नहीं। अतः "शब्द" आकाश का गुण है। यह "शेषवत्" अनुमान से सिद्ध होता है।

इसके अलावा एक अन्य प्रकार से भी "अनुमान" के भेद किए गए हैं:-

1. स्वार्थानुमान, 2. परार्थानुमान ।

अपने ही लिए जब अनुमान किया जाता है, तब वह "स्वार्थानुमान" होता है, परन्तु यदि "अनुमान" किसी दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए किया जाता है, तब वह "परार्थानुमान" होता है। भारतीय तार्किकों के अनुसार यदि अनुमान "स्वार्थ" हो अर्थात् अपने लिए ही हो, तो उसे क्रमबद्ध वाक्यों के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। जब अनुमान "परार्थ" होता है अर्थात् जब दूसरों के सम्मुख किसी तथ्य के प्रदर्शन की आवश्यकता होती है, तो अनुमान को क्रमबद्ध एवं शृंखलित रूप में प्रकट करने की आवश्यकता होती है। अनुमान की इस शृंखला को नैयायिकों ने "पंचावयव- वाक्य" के रूप में व्यक्त किया है और ये पंचावयव-वाक्य हैं :-

1· प्रतिज्ञा पर्वत अग्निवाला है।
2· हेतु धूमवाला होने से।
3· उदाहरण जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला में।
4· उपनय इसी प्रकार यह पर्वत अग्निव्याप्य धूमवाला है।
5· निगमन अतः यह पर्वत अग्निवाला है।

उपर्युक्त पाँच-वाक्यों के द्वारा ही "परार्थानुमान" प्रकट किया जाता है। इनमें से प्रतिज्ञा में, सिद्ध की जाने वाली वस्तु का निर्देश किया जाता है। हेतु, अनुमान को सिद्ध करने वाले कारण का निर्देश करता है। तीसरे वाक्य "उदाहरण" में उदाहरण के साथ हेतु और साध्य के नियत साहचर्य-नियम का उल्लेख किया जाता है। "उपनय" में व्याप्तिविशिष्ट पक्ष का बोध होता है। इतना होने पर अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है और वह "निगमन" कहलाता है।

नव्य-न्याय के अनुसार "अनुमान" का एक अन्य प्रकार से भी विभाजन किया गया है, उसके अनुसार अनुमान तीन प्रकार का होता है :-

1· केवलान्वयी, 2· केवलव्यतिरेकी, 3· अन्वयव्यतिरेकी।

यह विभाजन अधिक तर्कानुकूल माना जाता है, क्योंकि यह अनुमान को आधाररूप "व्याप्ति" को प्राप्त करने के प्रकार के ऊपर निर्भर है।

"केवलान्वयी" अनुमान वहाँ होता है, जहाँ हेतु, साध्य के साथ सर्वदा सत्तात्मकरूप से सम्बद्ध रहता है। यहाँ हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति का ज्ञान अन्वयमुखेन ही होता है, व्यतिरेकमुखेन नहीं। जैसे:-

समस्त ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं । ⁅ प्रतिज्ञा ⁆
घट एक ज्ञेय पदार्थ है। ⁅ हेतु ⁆
अतएव घट अभिधेय है। ⁅निगमन ⁆

यहाँ हम कोई ऐसा उदाहरण नहीं बता सकते, जहाँ "ज्ञेय" वस्तु "अभिधेय" न हो।

दूसरा "केवलव्यतिरेकी" अनुमान वहाँ होता है, जहाँ हेतु साध्य के साथ केवल निषेधात्मक रूप से ही सम्बद्ध रहता है जैसे :-

इतर पदार्थों से भिन्न न होने वाला गन्ध नहीं रखता । ⁅ प्रतिज्ञा ⁆
पृथ्वी गन्धवाली है । ⁅ हेतु ⁆
अतएव पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है । ⁅ निगमन ⁆

इस अनुमान में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखाई जाती है। साधन "गंध" पक्ष "पृथ्वी" के अलावा और कहीं देखना सम्भव नहीं है, इसलिए साधन और साध्य के बीच अन्वयमूलक व्याप्ति नहीं बन सकती।

तीसरे अनुमान "अन्वयव्यतिरेकी" में "हेतु", "साध्य" के साथ दोनों प्रकारों से सम्बद्ध रहता है :- अन्वय के द्वारा तथा व्यतिरेक के द्वारा। जैसे:-

अन्वय :- जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, जैसे पाकशाला ।

व्यतिरेक :- जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ धूम का भी अभाव है, जैसे जलाशय ।

यहाँ हेतु "धूम" अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकारों से साध्य के साथ सम्बद्ध है, अतः यह "अन्वय व्यतिरेकी" अनुमान है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "अनुमान" के दो मुख्य अङ्ग हैं:- "व्याप्ति और पक्षधर्मता" अर्थात् व्याप्ति से युक्त हेतु का पक्ष में होना। पक्षधर्मता के ज्ञान को "परामर्श" कहते हैं।

"हेतु" के आधार पर ही अनुमान होता है। यदि हेतु विशुद्ध हो अर्थात् अपेक्षित हेतु रूपों से युक्त हो, तो अनुमान शुद्ध होता है, अन्यथा अनुमान दूषित होता है और उस हेतु को "हेत्वाभास" कहते हैं। अतः जिस अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों दृष्टान्त हों, उसके "हेतु" को पाँच रूपों से युक्त होना चाहिए:-

1. पक्षवृत्तित्व :- हेतु को पक्ष में रहना चाहिए, जैसे धूम का पर्वत में रहना।
2. सपक्षवृत्तित्व:- जैसे धूम का "पाकशाला" में रहना।
3. विपक्षव्यावृत्तित्व:- जैसे धूम का "जलाशय" में नरहना।
4. अबाधितविषयत्व:- पक्ष में साध्य का अभाव किसी बलवत्तर प्रमाण सेप्रमाणित न हो। जैसे :- "अग्नि शीतल है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे जल। यहाँ "अग्नि" में शीतलता का अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, अतः यह हेतु "बाधितविषय" हुआ। इस दोष से रहित हेतु "अबाधितविषय" होता है।
5. असत्प्रतिपक्षत्व:- किसी अनुमान में जो "हेतु" हो, उसका "प्रतिपक्ष" अर्थात् विरुद्ध हेतु, जिससे उस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की सिद्धि हो जाए, नहीं होना चाहिए। जैसे :- "शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्य धर्मों से रहित है, जैसे:- "घट"।

इस अनुमान का प्रतिपक्ष होगा :-

"शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्मों से रहित है, जैसे :- "परमाणु"।

यहाँ हेतु "अनित्यत्व" का प्रतिपक्षी हेतु "नित्यत्व" शब्द में "नित्यता" की सिद्धि कर रहा है, अतः हेतु को इस प्रकार के दोष से युक्त नहीं होना चाहिए।

केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी अनुमान के लिए "हेतु" को चार-चार रूपों से युक्त होना चाहिए। "केवलान्वयी" में "विपक्षव्यावृत्तित्व" नामक हेतु रूप नहीं होता तथा केवलव्यतिरेकी में "सपक्षवृत्तित्व" नामक हेतु-रूप नहीं होता।

यदि "हेतु" इन रूपों में से किसी एक अथवा अधिक रूप से युक्त न हो, तो वह "हेत्वाभास" कहलाता है और यह "हेत्वाभास" पाँच प्रकार का बताया गया है :-

1. असिद्ध, 2. विरुद्ध, 3. अनैकान्तिक (सव्यभिचार) 4. प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) तथा 5. कालात्ययापदिष्ट (बाधित)

इसके बाद हम आते हैं :- "अनुमान" के मुख्य आधार "व्याप्ति" पर। यह "व्याप्ति" क्या है ? हेतु का साध्य के साथ नियत साहचर्य ही "व्याप्ति" कहलाता है। हेतु और साध्य के बीच जो व्यापक सम्बन्ध रहता है, उसी के द्वारा अनुमान होता है। इस सम्बन्ध को ही "व्याप्ति" कहा गया है। अनुमान-प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। "व्याप्ति" के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचना नव्य-न्याय के ग्रन्थों में की गई है। "व्याप्ति-सम्बन्ध" को "अविनाभाव" भी कहते हैं। "अविनाभाव" का अर्थ है :- जो वस्तु जिसके बिना विद्यमान न रह सके, उनका सम्बन्ध अर्थात् "हेतु" सदैव "साध्य" से सम्बद्ध रहता है। साध्य के अभाव में, हेतु की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी, परन्तु जहाँ अग्नि होगी, वहाँ यह आवश्यक नहीं कि धूम हो। इस प्रकार "धूम" के रहने का स्थान कम है और "अग्नि" का उससे कहीं अधिक, अतः "धूम" व्याप्य है तथा अग्नि "व्यापक" है। "अनुमान सदैव "व्याप्य" को देखकर "व्यापक" का किया जाता है। "व्यापक" को देखकर "व्याप्य" का अनुमान कभी नहीं किया जा सकता।

"व्याप्ति" का अर्थ "व्यापकता" है। "व्याप्ति" से दो वस्तुओं के नियत साहचर्य का बोध होता है, जिनमें एक "व्याप्य" है तथा दूसरी "व्यापक" है। दो वस्तुओं के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक हमें उनके सदा नियम से एकत्र रहने की सूचना न मिले। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है" इस साहचर्य को हम नियत रूप से पाते हैं, अतः धूम तथा अग्नि की व्याप्ति न्यायसङ्गत प्रतीत होती है। इसके विपरीत "अग्नि" के साथ "धूम" की व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अग्नि के सभी स्थलों पर धूम सदा विद्यमान नहीं रहता। उदाहरणार्थ :- तप्त लौ-पिण्ड में "अग्नि" तो रहती है परन्तु "धूम" नहीं। "अग्नि" के साथ "धूम" का सम्बन्ध तभी सिद्ध होता है, जब "आर्द्रेन्धनसंयोग" हो। इस "आर्द्रेन्धनसंयोग" को न्याय में "उपाधि" कहते हैं। व्याप्ति के लिए "उपाधि का न होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः हम कह सकते हैं कि हेतु और साध्य के उस साहचर्य को "व्याप्ति" कहा जाता है जो उपाधिहीन हो अर्थात् किसी विशेष अवस्था पर निर्भर न हो। यह हेतु पद और साध्य-पद का नियत अनौपाधिक सम्बन्ध है। इसलिए "व्याप्ति" का उचित लक्षण है :- हेतु और साध्य के बीच नियत तथा उपाधिरहित सम्बन्ध।

"व्याप्ति" का अर्थ जानने के पश्चात् अब प्रश्न उठता है कि व्याप्ति का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है ? हम केवल कतिपय स्थानों पर ही धूम और अग्नि का साहचर्य देखते हैं और व्याप्ति नियम सार्वदेशिक, सार्वकालिक बना देते हैं :- जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है"। ऐसी व्याप्ति के यथार्थ होने के लिए हमारे पास साधन ही क्या है ? इस विषय में न्याय-दर्शन का मत वेदान्त-दर्शन के अनुकूल है। न्याय-दर्शन के अनुसार जहाँ दो वस्तुएं सदा एक साथ रहती हैं और इस नियम का उल्लंघन कहीं भी नहीं दीखता, वहीं यथार्थ व्याप्ति होती है।

इस दर्शन में "व्याप्ति-सम्बन्ध" को "भूयोदर्शनजन्य" माना है। इसका तात्पर्य यह है कि बार-बार साहचर्य देखने से ही हमें "व्याप्ति " का निश्चय होता है। "व्याप्ति" की यथार्थता की परीक्षा के लिए न्यायशास्त्र में कुछ साधन माने गये हैं, वे हैं :-

1. अन्वय, 2. व्यतिरेक, 3. व्यभिचाराग्रह 4. उपाधिनिरास, 5. तर्क, 6. सामान्यलक्षण।

इनमें से अन्वय और व्यतिरेक तो व्याप्ति की यथार्थता के परीक्षा के लिए आवश्यक साधन हैं ही, किन्तु इनके अलावा अन्य साधनों की आवश्यकता को भी झुठलाया नहीं जा सकता। "न्याय" की व्याप्ति-स्थापन-प्रणाली, इस प्रकार की है :- प्रथमत: हम यह देखते हैं कि दो वस्तुओं में अन्वय सम्बन्ध है अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु भी रहती है। इसका एक भी व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। जैसे- "जहां-जहां धूम देखा गया है, वहां-वहां अग्नि भी देखी गई है।" अन्वय के बाद "व्यतिरेक" की सहायता ली जाती है अर्थात् "अग्नि" के न रहने पर "धूम" भी नहीं पाया जाता। एक के न रहने पर दूसरे का न रहना ही "व्यतिरेक" कहलाता है। इन दोनों के अलावा "व्यभिचाराग्रह" भी व्याप्ति-निश्चय का सहायक होता है। जिस व्याप्ति का निश्चय अन्वय और व्यतिरेक से हुआ, उसका कोई भी व्यतिक्रम या व्यभिचार यदि अभी तक न देखा गया हो, तो यह "व्यभिचाराग्रह" कहलाता है। व्याप्ति-परीक्षा का चौथा साधन "उपाधि-निरास" है। अर्थात् "व्याप्ति" के बीच "उपाधि" नहीं होनी चाहिए। "उपाधि" वह है, जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है, किन्तु हेतु या साधन के साथ नहीं रहता।" व्याप्ति-निश्चय के समय "उपाधि" का निराकरण होना आवश्यक है। अनुकूल तर्क व्याप्ति की यथार्थता के परीक्षा का पांचवां साधन है। ———>

⟶ धूम तथा अग्नि की व्याप्ति के लिए तर्क की अनुकूलता है कि "यदि पर्वत में अग्नि न होती, तो धूम भी न होता।" पर धूम की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, अतः "तर्क" दोनों के साहचर्य का द्योतक है। छठा और अन्तिम साधन है :- "सामान्यलक्षण"। यह एक निश्चित तथ्य है कि हम सभी कालों और सभी देशों में धूम और अग्नि का सम्बन्ध नहीं देख सकते, तथापि कुछ-कुछ स्थानों तथा कालों में देखे गये इन दोनों के सम्बन्ध से, इन दोनों में अनुगत जाति "धूमत्व" तथा "अग्नित्व" के प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति-ज्ञान किया जाता है।

उपर्युक्त छः साधनों से प्रमाणित "व्याप्ति" को ही सही अर्थों में "व्याप्ति" कहा जाता है।[1]

न्याय और वैशेषिक दर्शन का "अनुमान"-विवेचन" लगभग एक समान ही है, अतः अब हम "पूर्व-मीमांसा में अनुमान विवेचन" पर आते हैं।

मीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय है :- "धर्म"। "प्रत्यक्ष" आदि प्रमाणों से "धर्म" का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विचार इस दर्शन में किया गया है। यहां भाट्टमत के अनुसार अज्ञात तत्त्व का अर्थज्ञान ही "प्रमा" है तथा उस अनधिगत पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला करण "प्रमाण" है। प्रभाकर के मत में स्मृति से भिन्न "संवित्" ही "अनुभूति" है और वही "प्रमाण" है। "प्रमाण" के प्रभाकर के अनुसार पांच प्रकार हैं :-

---

1. द्रष्टव्य :- "तत्त्वचिन्तामणि" का "व्याप्तिग्रहोपाय प्रकरण" तथा "भाषा-परिच्छेद", कारिका 137 की "मुक्तावली"।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और शब्द । कुमारिल भट्ट इन पाँच के अलावा अभाव या अनुपलब्धि को भी छठा "प्रमाण" मानते हैं।

इनमें से "अनुमान प्रमाण" की लक्षण एवं प्रक्रिया को साधारणतः न्याय-वैशेषिक दर्शन के समान ही इस दर्शन में भी माना गया है तथापि कुछ अंशों तक भेद भी है, जैसे :- इन्होंने "न्याय" के समान पंचावयव-वाक्य न मानकर प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन इन तीन वाक्यों को ही "अवयव" माना है। इसके अलावा अनुमान-सम्बद्ध विवेचन पूर्वमीमांसा-दर्शन में भी "न्याय-दर्शन" के समान ही है।

==x==

"तृतीय अध्याय"

"बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन के अनुमान-विषयक विचारों की तुलना" :-

बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुमान-विषयक विचारों को पृथक्-पृथक् जान लेने के पश्चात् अब हम इन दोनों दर्शनों के बीच अनुमान विषयक विचारों की तुलना पर आते हैं। बौद्धों और नैयायिकों तथा मीमांसकों के बीच छः सौ वर्षों (पांचवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी ई०) तक जो दार्शनिक संघर्ष चला, उसका मूल आधार दोनों के प्रमाण-विषयक, विशेषकर अनुमान-विषयक विचार भी थे।

जब हम बौद्ध दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्रमाण-विषयक विचारों पर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि जहां एक ओर न्याय-वैशेषिक तथा पूर्व-मीमांसा-दर्शन बाह्यार्थवादी होने के कारण प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की यथार्थता को स्वीकारते हैं, वहां दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को कल्पित मानते हैं, पारमार्थिक नहीं। बौद्ध-दर्शन में केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही प्रमाण-प्रमेय-भाव स्वीकार किया गया है और इसी दृष्टि से इस दर्शन में प्रमाणों का विवेचन किया गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में यथार्थ ज्ञान का साधन या करण "प्रमाण" माना गया है, जबकि बौद्ध-दर्शन में उस ज्ञान को "प्रमाण" माना गया है, जबकि वह अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखता है अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु का बोध कराया जाता है, यदि वह उसी रूप में प्राप्त हो जाती है, तो वह ज्ञान "प्रमाण" कहलाता है।

जहाँ न्याय-दर्शन में "प्रमाण" के चार भेद, वैशेषिक-दर्शन में दो भेद, तथा पूर्वमीमांसा-दर्शन में पाँच और छः भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध-दर्शन को "प्रमाण" के दो ही प्रकार स्वीकार्य हैं :- 1. प्रत्यक्ष तथा अनुमान ।

इन दोनों के अलावा बौद्ध किसी भी अन्य "प्रमाण" को नहीं मानते तथा इनके अलावा जो प्रमाण अन्य दर्शनों ने माने हैं, उन सभी का अन्तर्भाव इन्हीं दो प्रकार के प्रमाणों में कर देते हैं।

इसके अलावा "प्रमाण" के विषय के सम्बन्ध में बौद्ध-दर्शन की एक नवीन उद्भावना है। "प्रमाण" का विषय इस दर्शन में दो प्रकार का माना गया है- ग्राह्य और अध्यवसेय। ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य। जिसके आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ग्राह्य विषय है। अध्यवसेय अर्थात् निश्चय करने योग्य। जो पदार्थ प्रापणीय है, वह अध्यवसेय है।

बौद्ध-दर्शन का मन्तव्य है कि "प्रमाण" ग्रहण करने योग्य (उपादेय) अथवा त्यागने योग्य (हेय) पदार्थ को प्रदर्शित करते हैं। इससे मनुष्य की उस अर्थ में प्रवृत्ति होती है। न्याय-दर्शन में तीन प्रकार के "अर्थ" (वस्तु) माने गये हैं :- उपादेय, हेय और उपेक्षणीय, जबकि बौद्ध उपादेय तथा हेय को ही स्वीकार कर, उपेक्षणीय अर्थ को पृथक् अर्थ नहीं मानते । उपेक्षणीय अर्थ का अन्तर्भाव वे "हेय" अर्थ में ही कर देते हैं।

बौद्ध-दर्शन "प्रमाण-व्यवस्था" को मानता है, जबकि न्याय-दर्शन "प्रमाण-सम्प्लव" को मानता है। "प्रमाण-सम्प्लव" का तात्पर्य है :- "किसी प्रमेय का कई प्रमाणों द्वारा ग्रहण होना ।" जबकि "प्रमाण-व्यवस्था" का अर्थ है :- प्रमेय अर्थ में अनेक प्रमाणों का न जा सकना।" नैयायिक कुछ अंशों में "प्रमाण-व्यवस्था" को भी मानते हैं। भारतीय-दर्शन में "प्रमाण-सम्प्लव" तथा "प्रमाण-व्यवस्था" को लेकर प्राचीन काल से ही विवाद रहा है। "न्याय-भाष्य" में "प्रमाण-सम्प्लव" तथा "प्रमाण-व्यवस्था" दोनों को विषय-भेद अथवा काल-भेद से स्वीकार किया गया है। ⟶

→ क्योंकि दोनों ही लोकप्रसिद्ध हैं। 1. उदाहरणार्थ :- "यहाँ अग्नि है।" इस आप्तवाक्य से "अग्नि" का ज्ञान होता है। समीप जाता हुआ व्यक्ति धूम को देखकर उसी अग्नि का "अनुमान" करता है और समीप आकर "प्रत्यक्ष" से अग्नि का ज्ञान करता है। यहाँ "प्रमाणसंप्लव" है, परन्तु कहीं-कहीं "प्रमाण-व्यवस्था" भी देखी जाती है, जैसे :- "स्वर्गकामो यजेत" । यहाँ केवल "शब्द" प्रमाण ही है। लौकिक मनुष्य को न तो स्वर्ग का प्रत्यक्ष होता है, न ही अनुभव इसी प्रकार जो वस्तु हमें प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसमें न अनुमान किया जाता है, न शब्द-प्रमाण की आवश्यकता होती है, अतः यहाँ "प्रमाण-व्यवस्था" है।

दिङ्नाग ने "प्रमाण-व्यवस्था" को ही स्वीकार करते हुए "प्रमाण-संप्लव" का विरोध किया था। इनके मत में "प्रमाण-संप्लव" संभव नहीं, क्योंकि प्रमाण विशिष्ट विषय वाले हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय "सामान्यलक्षण" नहीं हो सकता तथा अनुमान का ग्राह्य विषय 'स्वलक्षण' नहीं हो सकता। दिङ्नाग-सम्प्रदाय के अनुसार प्रतिबन्ध या व्याप्ति का ग्रहण सामान्य धर्मों से होता है, अतः अनुमान का विषय "सामान्यलक्षण" ही है। स्वलक्षण, जो अन्तिम विशेष धर्म है, उसके साथ प्रतिबन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण हो ही नहीं सकता, अतः वह अनुमान का विषय नहीं हो सकता। दोनों प्रमाण एक दूसरे के विषय-क्षेत्र में कथमपि प्रवेश नहीं पा सकते। यही "प्रमाण-व्यवस्था" है, जो बौद्धों को स्वीकार्य है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण को जहाँ न्याय में "इन्द्रियार्थसन्निकर्ष" से उत्पन्न हुआ माना गया है, वहाँ बौद्ध-दर्शन में कल्पनारहित ज्ञान को प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा इसकी प्राप्ति के साधन को प्रत्यक्ष-प्रमाण माना गया है।

---

1. न्यायदर्शनम् :- 1/1/3, पृ० सं० 182 पं० 13-25.

"अनुमान-प्रमाण" के विषय में बौद्ध और नैयायिकों में काफी समय तक अत्यन्त विवाद रहा, जिसके फलस्वरूप दर्शन के इन दोनों सम्प्रदायों को अपने सिद्धान्तों की नवीन-नवीन व्याख्यायें करनी पड़ी तथा इससे दोनों के अनुमान-विषयक विचारों में अत्यधिक निखार आया और "अनुमान" का स्वरूप बहुत अधिक परिष्कृत हुआ। इसलिए इस काल के संघर्षों को हम भारतीय-दर्शन के लिए "वरदान" कह सकते हैं।

न्याय-दर्शन के अनुसार "चिह्न" (लिङ्ग) के ज्ञान से उस पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना, जिसमें वह "चिह्न" विद्यमान हो, "अनुमान" कहलाता है। यह वह ज्ञान है जो अन्य ज्ञान के पश्चात् आता है। "अनुमान" का यौगिक अर्थ है:- "किसी वस्तु के पश्चात् मापना।" लिङ्ग को जानकर "लिङ्गी" का ज्ञान ही "अनुमान" कहलाता है। "धूम" को देखकर "अग्नि" का ज्ञान "अनुमिति" है तथा इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन "अनुमान" प्रमाण है। इसके विपरीत बौद्ध-दर्शन में अविनाभावी सम्बन्ध का ज्ञाता जब कहीं धूम को देखता है, तो यही "अनुमान" है। इससे "अग्नि" की प्रतीति होती है। अनुमान के विषय के सम्बन्ध में दिङ्नाग ने एक अत्यन्त रोचक प्रश्न उठाया है, जिसका उल्लेख "न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका" में आता है। हम धूम से अग्नि का अनुमान नहीं करते हैं, क्योंकि यह कोई नया ज्ञान नहीं है। हम पहले से जानते हैं कि धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार अग्नि और पर्वत के परस्पर सम्बन्ध का अनुमान हमने किया, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्बन्ध के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है, जबकि "अनुमान" में हमारे पास केवल एक ही वस्तु अर्थात् "पर्वत" है, क्योंकि "अग्नि" तो दिखाई नहीं देती। जिसका हम अनुमान करते हैं, वह न तो अग्नि है, न ही पर्वत है, बल्कि ऐसा पर्वत है, जिसमें "अग्नि" वर्तमान है अर्थात "अग्निविशिष्ट पर्वत" का अनुमान करते हैं।[1]

---

1. द्रष्टव्य :- पृ0 सं0 25

जहाँ न्याय-दर्शन में "सद्‌हेतु" के पाँच रूप बताये गये हैं, वहाँ बौद्ध, हेतु को त्रिरूप-सम्पन्न मानते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार हेतु को निम्नलिखित पाँच रूपों से युक्त होना चाहिए, तभी वह सद्-हेतु कहलाता है :-

1. पक्षवृत्तित्व, 2. सपक्षवृत्तित्व, 3. विपक्षव्यावृत्तित्व,
4. अबाधितविषयत्व, 5. असत्प्रतिपक्षत्व।

बौद्ध-दर्शन में इनमें से पहले तीन रूपों अर्थात् "पक्ष में विद्यमान होना, सपक्ष में विद्यमान होना तथा विपक्ष में विद्यमान न होना" को ही सद्हेतु के लिए आवश्यक बताया है। अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दोनों रूप बौद्ध-दर्शन के "हेतु" में आ ही नहीं सकते, क्योंकि बौद्ध "प्रमाण-व्यवस्था" को मानते हैं। दिङ्‌नाग ने "हेतु" का लक्षण यह दिया है :- "जो ग्राह्य अर्थात पक्ष का धर्म उस (पक्ष) के अंश से व्याप्त है, वह "हेतु" है।[1]

"हेतु" के समान असद्हेतु अर्थात हेत्वाभास का निरूपण भी बौद्ध तथा न्याय-दर्शन में किया गया है। जहाँ न्याय-दर्शन पाँच प्रकार का "हेत्वाभास" (असिद्ध, विरूद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम, कालात्ययापदिष्ट) मानता है, वहाँ बौद्ध-दर्शन में तीन प्रकार के ही हेत्वाभास होते हैं :- असिद्ध, विरूद्ध तथा अनैकान्तिक। इन तीनों हेत्वाभासों के भी इस दर्शन में अनेक प्रभेद किये गये हैं।

वैशेषिक और बौद्ध-न्याय दोनों ने ही "अनुमान" के स्पष्ट रूप से दो भेद किए हैं:-

1. स्वार्थानुमान 2. परार्थानुमान।

---

1. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, न्यायदर्शनम्, 1/1/35, पृ० सं० 554.

न्याय-वैशेषिक दर्शन ने स्वार्थानुमान का रूप यह माना है कि जब लिङ्ग दर्शन और लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध-स्मरण (व्याप्ति-स्मरण) से अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति हो जाती है, तो यह स्वार्थानुमान है।[1] जब शब्दों द्वारा दूसरे को किसी वस्तु का अनुमान कराया जाता है, तो वहाँ पंचावयव-वाक्य का प्रयोग किया जाता है, यही परार्थानुमान है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार स्वार्थानुमान में लिङ्ग "अनुमेय" में रहता है (जैसे "पर्वत में अग्नि है" इस अनुमान में "अग्नि" अनुमेय है।), सपक्ष में रहता है (पाकशाला सपक्ष है।) और विपक्ष में नहीं रहता (जलाशय विपक्ष है।)। "हेतु" के इन तीन रूपों को ध्यान में रखकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाए, वह "स्वार्थानुमान" कहा जाता है। इसलिए धर्मकीर्ति ने कहा है:-

" तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।"[2]

अर्थात् "अनुमेय" में त्रिरूप लिङ्ग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे "स्वार्थानुमान" कहते हैं। "ज्ञान" को स्वार्थानुमान और "कथन" को परार्थानुमान कहा गया है। परार्थानुमान में वाक्यों के अर्थात् अवयवों के द्वारा, दूसरों को अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् "त्रिरूपलिङ्ग का कहना" परार्थानुमान है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है:-

" त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।"[3]

---

1. "स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते ।" (न्यायभाष्य) न्यायदर्शनम् 1/1/5, पृ० सं० 291, पं० 13.
2. न्यायबिन्दुटीका 2/3
3. न्यायबिन्दुटीका 3/1

वचनों के द्वारा त्रिरूपलिङ्ग के कथन को "परार्थानुमान" कहते हैं। ये तीन रूप हैं:-

"अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति।" [1]

किसी वस्तु का मिलना "उपलब्धि" और न मिलना "अनुपलब्धि" है। जैसे :- उपलब्धि के योग्य समस्त सामग्री विद्यमान होने पर भी किसी विशेष स्थान पर कोई वस्तु न हो तो वहाँ उसकी "अनुपलब्धि" होती है। वहाँ "अनुपलब्धि" नामक हेतु रूप के कथन द्वारा अनुमान किया जाता है।

जो पदार्थ अपने हेतु की अपेक्षा कर ही विद्यमान होता है और हेतुसत्ता से भिन्न अन्य किसी हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, वह "स्वसत्तामात्रभावी" साध्य है। उस "स्वसत्तामात्रभावी" साध्य में जो हेतु है, वही "स्वभावहेतु" कहा जाता है। जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है:-

"स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ।" [2]

जैसे:- "यह वृक्ष है, क्योंकि यह "शिंशपा" (शीशम) है।"
यहाँ "शिंशपा" होने के ही कारण यह "वृक्ष" है।

(साध्य के) कार्य को देखकर उस साध्य की उपलब्धि का अनुमान करना, "कार्य" है। जैसे:- "यहाँ अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है।"

यहाँ कार्य "धूम" से साध्यरूप "अग्नि" का अनुमान होता है। इन तीनों प्रकार के हेतुओं में "स्वभाव" और "कार्य", "वस्तु" के साधन हैं और "अनुपलब्धि" प्रतिषेध का निरूपण करती है।

---

1. न्यायबिन्दुटीका, 2/11
2. न्यायबिन्दुटीका, 2/15.

जहाँ न्याय-दर्शन ने परार्थानुमान के लिए पंचावयव-वाक्य (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन।) का प्रयोग किया है, वहाँ बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान वाक्य के केवल दो ही अवयव माने जाते हैं:- हेतु और दृष्टान्त।

इसके अलावा प्रतिज्ञा या पक्षवचन के स्वरूप के विषय में नैयायिक तथा बौद्ध-मत भिन्न-भिन्न हैं। "न्यायसूत्र" में "साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा" यह "प्रतिज्ञा" का लक्षण किया गया है, जबकि बौद्धों के अनुसार "पक्ष" वह है, जिसे सिद्ध करना इष्ट है। बौद्धों के मत में "धूम" से "अग्नि" के अनुमान में "अग्नि" पक्ष है, जबकि नैयायिकों के मत में "पर्वत" पक्ष है।

बौद्धों के मत में "जो उस (साध्यविशिष्ट) रूप में सिद्ध है, वह दृष्टान्त है।"[1] "दृष्टान्त" का एक अन्य उदाहरण भी "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में आता है :- "साध्य के द्वारा हेतु का अनुगमन (हेतु के होने पर साध्य का होना) तथा साध्य के अभाव में हेतु का अभाव (दिखलाना दृष्टान्त है।)"[2] इसके विपरीत नैयायिक दृष्टान्त तथा उदाहरण को एक ही मानते हुए किसी बात के साधन के लिए जो उद्धरण दिया जाता है, उसे "दृष्टान्त" कहते हैं। जिस बात में पक्ष और विपक्ष दोनों दलों का एक मत हो, वही दृष्टान्त के रूप में उद्धृत हो सकता है।

इस सबके पश्चात् अब हम "अनुमान" के मुख्य अङ्ग "व्याप्ति" पर दृष्टिपात करते हैं। "व्याप्ति" न्याय-दर्शन में "स्वाभाविक सम्बन्ध" को कहा गया है। इसे ही बौद्ध-दर्शन में प्रतिबन्ध या स्वभाव-प्रतिबन्ध कहा गया है। "व्याप्ति" के अनुमान का आधारभूत अङ्ग होने के कारण, इस विषय में बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक, मीमांसा दर्शन में अत्यन्त गम्भीर विचार हुए तथा इस प्रकार "व्याप्ति" का स्वरूप स्पष्ट होता गया।

---

1. न्यायवार्तिक, न्यायदर्शनम् 1/1/37, पृ० सं० 566, पं० 24.
2. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायदर्शनम् , 1/1/37, पृ० सं० 568.

नैयायिक हेतु व साध्य के बीच निरुपाधिक-सम्बन्ध को "व्याप्ति" मानते है, जैसे:- धुम तथा अग्नि के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध है। क्योंकि जहाँ-जहाँ धुम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि दिखाई देती ही है। इनके बीच कोई "उपाधि" भी नहीं है, जबकि "अग्नि" [हेतु] तथा "धुम" [साध्य] का संबंध निरुपाधिक नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि "जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धुम है।" धुम के अभाव में भी अग्नि की सत्ता देखी ही जाती है। "धुम" (आग्नि) और ~~"अग्नि"~~ धूम के बीच "आर्द्रेन्धनसंयोग" उपाधि है। यदि लकड़ी गीली होगी, तभी अग्नि के साथ धुम का सम्बन्ध होगा, अन्यथा नहीं, इस प्रकार "जहाँ-जहाँ अग्नि होगी, वहाँ-वहाँ धुम होगा" इस प्रकार की "व्याप्ति" नहीं बन सकती, क्योंकि यह निरुपाधिक नहीं है। इस प्रकार "व्याप्ति-दर्शन" के बाद लिङ्गस्मृति आदि के क्रम से होने वाला ज्ञान अनुमान होता है, जो अनुमिति का जनक है। यह सम्बन्ध-ग्रहण [व्याप्ति-ग्रहण] बार-बार सहचार-दर्शन से होता है। बार-बार हमने धुम और अग्नि को साथ-साथ देखा, कभी भी अग्नि के अभाव में धुम को नहीं देखा, तो हमें धुम और अग्नि के बीच "व्याप्ति" का निश्चय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि नैयायिक व्याप्ति-सम्बन्ध को "भूयोदर्शनजन्य" मानते हैं।

इसके विपरीत बौद्ध-दर्शन, कार्य-कारणभाव तथा स्वभाव पर आश्रित अविनाभाव को, अनुमिति का जनक या अनुमानाङ्ग मानता है। धर्मकीर्ति ने कहा है :-

" स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य।"

" वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च । "[1]

---

1. द्रष्टव्य :- पृ० सं० 24.

अर्थात् धर्मकीर्ति का मत है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो निमित्तों से स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है। बौद्ध-न्याय के अनुसार स्वलक्षण या क्षण की ही वास्तविक सत्ता होती है। इस अर्थक्रियाकारी क्षण के अनेक स्वभाव हो सकते हैं, जैसे:- यह वृक्ष भी है, अशोक भी। किन्तु इन सभी "धर्मों" में तादात्म्य होता है, वस्तुत: वे भिन्न नहीं होते। उनमें से एक धर्म प्रतिबद्ध-अविनाभावी होता है। और दूसरा प्रतिबन्ध का विषय, जैसे अशोकत्व धर्म, वृक्षत्व का अविनाभावी है। वह "अशोक" तभी हो सकता है, जब वह "वृक्ष" हो। इस प्रकार तादात्म्य से प्रतिबन्ध होता है।

किन्तु यदि किसी वस्तु को कार्य-कारण-भाव की दृष्टि से देखा जाता है, तो प्रतीत होता है कि कार्य, अपनी सत्ता के लिए कारण पर आश्रित है। वह कार्य, अपने कारण में प्रतिबद्ध- अविनाभावी है, जैसे "अङ्कुर" रूप कार्य, सदा "बीज" से ही उत्पन्न होता है, बिना "बीज" के कभी भी नहीं होता। इस प्रकार "तदुत्पत्ति" के निमित्त से भी प्रतिबन्ध होता है, क्योंकि अङ्कुर, बीज से ही प्रस्फुटित होता है, अत: अङ्कुर को देखकर बीज का अनुमान किया जा सकता है।

"अभाव" की सिद्धि "अनुपलब्धि" से होती है। अभाव की व्याप्ति का निश्चय "अनुपलब्धि" से होता है। जैसे :- यहाँ धूम का अभाव है क्योंकि यहाँ अग्नि का अभाव है।

नैयायिक-वैशेषिक तथा मीमांसकों ने बौद्धों की इस धारणा का, कि व्याप्ति, तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक होती है, अत्यन्त बलपूर्वक खण्डन किया है। दूसरी ओर बौद्धों ने भी अपने मत की पुष्टि में अनेक तर्क दिए तथा व्याप्ति के "भूयोदर्शनजन्या" होने का खण्डन किया।

बौद्धों के मत में यदि बार-बार सहचार-दर्शन से हम व्याप्ति-संबंध का निश्चय करें, तो "वह श्याम है, मैत्री का पुत्र होने से, दिखलाई देने वाले मैत्री के अन्य पुत्रों के समान" ऐसा भी अनुमान होने लगेगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन हैं ही। इसलिए तादात्म्य और तदुत्पत्तिनिमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है, परन्तु नैयायिकों ने बौद्धों के " वह श्याम है....." इस उदाहरण में "शाकपाकजन्यत्व" को उपाधि माना है तथा इस प्रकार "उपाधि" होने से, ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती, क्योंकि "व्याप्ति" तो "निरूपाधिक-सम्बन्ध" है।

इस प्रकार नैयायिक-वैशेषिक, मीमांसक तथा बौद्धों की व्याप्तिविषयक विचारधारा में यही मुख्य अन्तर है कि "नैयायिक "व्याप्ति" को "बार-बार सहचार-दर्शन से होने वाली" मानते हैं, जबकि बौद्ध, प्रतिबन्ध को तादात्म्य, कार्यकारणभाव ~~तथा~~ अथवा अनुपलब्धि से होने वाला मानते हैं।

==x==

"चतुर्थ अध्याय"

"रत्नकीर्ति से पूर्व व्याप्तिविषयक विवाद" :-

"व्याप्ति" अविनाभाव नियम, प्रतिबन्ध या स्वभाव प्रतिबन्ध के विषय में हम पिछले अध्यायों में थोड़ा बहुत विचार विमर्श कर चुके हैं। इससे "व्याप्ति" का अर्थ तो स्पष्ट हो ही गया है तथा कुछ अंशों तक "व्याप्ति" के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक, मीमांसक तथा बौद्धों के बीच विवाद की भी एक झलक मिलती ही है ।

रत्नकीर्ति, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी के महान् बौद्ध लेखक हैं तथा जिनकी कृति "रत्नकीर्ति निबन्धावलि:" नाम से प्रसिद्ध है, इन्होंने "रत्नकीर्ति-निबन्धावलि:" के "व्याप्तिनिर्णय:" नामक निबन्ध में बौद्धों के व्याप्तिविषयक विचार तथा आस्तिक और नास्तिक दर्शन के बीच व्याप्तिविषयक विवाद का भी दर्शन कराया है।

इस अध्याय में हम रत्नकीर्ति से पहले के बौद्ध-दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक, मीमांसा दर्शन के बीच व्याप्तिविषयक विवाद पर विचार करेंगे। रत्नकीर्ति से पूर्व के व्याप्तिविषयक विवाद की झलक हमें वाचस्पति मिश्र की "न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका", उद्योतकर के "न्यायवार्तिक" आदि में देखने को मिलती है।" बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थ दिङ्नाग का "प्रमाणसमुच्चय", धर्मकीर्ति का "प्रमाणवार्तिक" तथा "न्यायबिन्दु" आदि में भी प्रमाणों का विवेचन करते हुए न्याय-वैशेषिक आदि के प्रमाणविषयक विविध विचारों की आलोचना की गई है।

बौद्धों और नैयायिकों के मध्य व्याप्ति के विषय में विवाद का मूल आधार नैयायिकों का व्याप्ति को "भूयोदर्शनजन्या" मानना तथा बौद्धों का व्याप्ति को तादात्म्य ~~और~~ अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक मानना ही है।

इसी मूल विषय को लेकर आस्तिक तथा नास्तिक सम्प्रदायों के बीच काफी समय तक विवाद होता रहा। जहाँ एक ओर आस्तिक (नैयायिक-वैशेषिक, मीमांसक) सम्प्रदाय अपने मत पर डटा रहा तथा परमत का खण्डन करता रहा, वहाँ दूसरी ओर नास्तिक (बौद्ध) सम्प्रदाय भी अपने मत की पुष्टि में अनेक तर्क देते हुए परमत का खण्डन तथा पराक्षेपों का निराकरण करता रहा।

वाचस्पति-मिश्र की "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में आता है कि दो प्रकार के अर्थों (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में से परोक्ष अर्थ बुद्धि में साक्षात् अपने रूप को अर्पित करने में असमर्थ है, इसलिए उसका निश्चय नहीं होता और अतिप्रसङ्ग हो जाने के भय से अन्य को देखकर अन्य की कल्पना उचित नहीं, हाँ, अविनाभाव सम्बन्ध से अन्य (अर्थ) भी दूसरे "अर्थ" का गमक (बोधक) हो सकता है, क्योंकि उसका जैसा स्वभाव-सम्बन्ध जाना जाता है, वैसा ही अन्य वस्तु की सत्ता को वह सूचित करता है, किन्तु वह प्रतिबन्ध दर्शनमात्र से नहीं निश्चित किया जाता। यदि ऐसा होगा, तो "वह श्याम है, मैत्री का पुत्र होने से, दिखलाई देने वाले मैत्री के पुत्रों के समुदाय के समान" इस प्रकार का भी अनुमान हो जाएगा। यहाँ भी दर्शन और अदर्शन हैं ही। इसलिए तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक ही प्रतिबन्ध होता है।[1]

यहाँ पर यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने कोई नाम निर्देश नहीं किया तथापि धर्मकीर्ति के मत का विशेषतः कथन किया है ; क्योंकि "प्रमाणवार्तिक" से यह ग्रन्थ अधिकांशतः मिलता है।

इस पर → नैयायिक प्रश्न उठाते हैं कि कार्य और कारण का नियत सम्बन्ध है, यही कैसे मान लिया जाए? ⟶

---

1. द्रष्टव्य :- पृ० सं० - 28-29.

→ कार्य, कारण का अविनाभावी है, इसमें क्या प्रमाण है ? कारण के बिना भी कार्य क्यों नहीं हो जाता ? [1]

इसके उत्तर में बौद्ध-न्याय कहता है:-

तथा च सत्यनपेक्षतया कादाचित्कत्वविहतिरिति चेत् - यथाह,

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभव: ।। "[2]

{न्या० वा०ता०टी०, न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 306, पं०15-18}

ऐसा होने पर अर्थात् कारण के बिना कार्य हो जाने पर, कार्य के किसी अन्य की अपेक्षा के बिना हो जाने से कार्य का कदाचित् होना न बन सकेगा, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है:-

कार्य के अहेतुक होने पर उसकी नित्य ही उत्पत्ति या अनुत्पत्ति होनी चाहिए ; क्योंकि अहेतुक भाव अपनी उत्पत्ति में अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखेगा। भावों का कभी होना, कभी न होना {कादाचित्कत्व} तो कारण की अपेक्षा से होता है।

यदि कार्य बिना कारण के ही होने लगेगा, तो वह सदा ही होता रहेगा या कभी भी न होगा ; यह नहीं कि कभी होगा, कभी नहीं, क्योंकि तब उसे अन्य कारण की अपेक्षा तो होगी नहीं। इस तर्क द्वारा इस शङ्का का निराकरण हो जाता है कि कारण के बिना भी कार्य क्यों नहीं हो जाता । इस प्रकार कार्य-कारण-भाव अविनाभाव का नियामक है, यह बात भी समझ में आ जाती है।

---

1. "तथापि कस्मात् कारणमन्तरेण न कार्यं भवति।" {न्या० वा० ता०टी०} न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 306, पं० 15.

2. प्रमाणवार्तिक :- 3/35, पृ० सं० 270.

अब उद्योतकर आदि नैयायिकों के द्वारा यह तर्क उपस्थित किया जाता है:-" कार्य से जो कारण अनुमान होगा, वह उस {कार्य} से पूर्वकालीन कारण का ही अनुमान हो सकेगा, वर्तमानकालीन का नहीं, क्योंकि कार्य के समकाल में हेतु का होना कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं, अपितु कार्य से पूर्वकाल में होना। जैसे कि नदी की विशेष प्रकार की बाढ़ {जलवृद्धि} अपनी समकालीन वर्षा की अनुमिति नहीं कराती, अपितु उससे पूर्वकालीन वर्षा की अनुमिति कराती है। तत्कालीन वर्षा तो उसका कारण नहीं है। इसलिए साधक और बाधक प्रमाण न होने से तत्कालीन वर्षा में सन्देह करते हुए {वर्षा} के अभिलाषी प्रवृत्त नहीं होते। इसी प्रकार धूम से भी पूर्वकालीन अग्नि का अनुमान होगा, वर्तमान का नहीं। ऐसा होने पर {वर्तमानकालीन अग्नि का अनुमान न होने पर यह सन्देह होगा कि अब अग्नि है या नहीं, पहले थी} अग्नि के अभिलाषी वहाँ शङ्कारहित होकर प्रवृत्त न हो सकेंगे।" 1.

यही नहीं, कार्य से कारण का अनुमान करने में एक दोष और भी होगा, ऐसा नैयायिकों का कहना है:-

" इसके अतिरिक्त अनुमाता लोग रस के समानकाल में रस के द्वारा उससे भिन्न रूप का अनुमान करते हैं अर्थात् रस को देखकर रूप का अनुमान किया जाता है, किन्तु रस और रूप का न तो कार्यकारणभाव है और न ही तादात्म्य भाव " 2. अतः तादात्म्य और तदुत्पत्ति से प्रतिबन्ध होता है, यह मानने पर कैसे काम चल सकता है ?

---

1. न्या० वा० ता० टी०, न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 306-307, पं० 22-26.
2. "अपि च रसादन्यद्रूपं रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातारः । न चानयोरस्ति कार्यकारणभावः तादात्म्यं वा।" {न्या०वा०ता०टी० न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 307, पं० 1-2.

बौद्ध-दर्शन की ओर से इस बात का उत्तर वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार दिया है :-

" यदि यह कहा जाए कि पूर्वकालीन रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के क्षणों से ॥ पुंज से पुंज की उत्पत्ति होती है, इस नियम के अनुसार ॥ जो रस क्षण उत्पन्न होता है, वह ॥ रसक्षण ॥ अपने कारणभूत पहले रूपक्षण का अनुमान कराता हुआ जैसा उस ॥प्रथम रूपक्षण॥ से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार के रूप क्षण का अनुमान करा देता है और वह ॥रूपक्षण॥ अनुमापक, रसक्षण के समकालीन रूप के क्षण का उत्पादक ही है, अतः वैसे ही ॥रूपक्षण॥ का बोधक होता है। इस प्रकार कार्य ॥रसक्षण॥ के समकालीन रूप का अनुमान सिद्ध हो जाता है। इससे धूम द्वारा तत्कालीन अग्नि के अनुमान की व्याख्या हो गई, जैसा कि ॥धर्मकीर्ति [1] ने॥ कहा है:-

एक कारण सामग्री से उत्पन्न होने वाले रूप, गन्ध आदि को जो ॥उसी सामग्री से उत्पन्न॥ मधुर रसादि ॥लिङ्ग॥ द्वारा अनुमिति ॥ गतिः अवगतिः ॥ होती है, वह रस के जो हेतु ॥रूप, रस, गन्ध, स्पर्श क्षण ॥ हैं उनके धर्म ॥ रूपजनकत्व ॥ के अनुमान से होती है। जैसे धूम से अग्नि आदि सामग्री का अनुमान हो जाने पर भस्म, अङ्गारादि इन्धन के विकारों की अनुमिति होती है।" [2]

---

1. "एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ।।" प्रमाणवार्तिक ॥मनोरथनन्दी टीका॥ 3/9 पृ० सं० 262.

2. "अपि च रसादन्यद्रूपं .... धूमेन्धनविकारवत् ।।"
न्या० वा० ता० टी०, न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 307, पं० 1-8.

वाचस्पति मिश्र कृत उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि बौद्धों के मत में रस के द्वारा जो रूप का अनुमान होता है, यद्यपि उसमें साक्षात् कार्य-कारण भाव के आधार पर होने वाला प्रतिबन्धनियम कार्य नहीं करता, तथापि परम्परया यही नियम है। पहले रस के द्वारा उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है ; क्योंकि बौद्ध-मत के अनुसार पूर्वक्षणपुंज से अन्य क्षण-पुञ्ज की उत्पत्ति होती है, अतः उस उत्पादक सामग्री में स्थित रूपक्षण, रस-समकालीन रूपक्षण का जनक है। वह अपने समान रूपक्षण का ही जनक है, वह उसका धर्म या स्वभाव है, अतः उसके समान रूपजनकत्व का अनुमान होने से रस समकालीन रूप का भी अनुमान हो जाता है। 1.

यह बात उदाहरण से इस प्रकार जानी जा सकती है कि धूम से उसकी कारण-सामग्री अग्नि, आर्द्र-इन्धन आदि का अनुमान हो जाता है। वह अग्नि और भस्मादि का जनक है, अतएव अनुमित अग्नि आदि सामग्री से अङ्गारों और राख का भी अनुमान होता है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव से प्रतिबन्ध-नियम होता है, यह स्पष्ट ही है।

अब नैयायिक पुनः प्रश्न उठाते हैं कि तादात्म्य के द्वारा प्रतिबन्ध-नियम नहीं हो सकता। तादात्म्य में ज्ञाप्यज्ञापकभाव कैसे हो सकता है ? वही कर्म और कर्ता भी हो, यह तो उचित नहीं। ज्ञाप्यज्ञापकता {कर्म,कर्तृभाव} तो भेदाश्रित है अर्थात् भिन्न वस्तुओं में होती है। इसका समाधान करते हुए बौद्ध-दर्शन की ओर से वाचस्पति मिश्र कहते हैं :-

---

1. द्रष्टव्य :- "वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन" श्री निवासशास्त्री अनुमान-प्रकरण, पृ० सं० 154.

"यद्यपि वृक्षता और शिंशपात्व दोनों यथार्थ में भिन्न नहीं, तथापि एक में अन्यभेद का आरोप {प्रतिक्षेप} कर लिया जाता है, दूसरे में नहीं {अप्रतिक्षेप} अतएव दोनों में कल्पित भेद है और ज्ञाप्यज्ञापक भाव बन जाता है।"[1]

तात्पर्य यह है कि ज्ञाप्यज्ञापक भाव के लिए यथार्थ भेद की आवश्यकता नहीं, कल्पनाकृत भेद से ही यह हो सकता है। वास्तव में बौद्ध-न्याय के अनुसार अनुमान-अनुमेय व्यवहार कल्पित {मानस} धर्मधर्मिभाव से ही होता है। इसके लिए वस्तुओं की यथार्थ जगत् में विद्यमानता आवश्यक नहीं, अतः तादात्म्य-भाव से प्रतिबन्ध-नियम होता है, यह युक्तिसङ्गत है।

इसी "तादात्म्य" सम्बद्ध प्रश्न को "धर्मोत्तरप्रदीप"[2] में इस प्रकार उठाया गया है :-

प्रतिज्ञा, जो कि "पञ्चावयव"-वाक्य का प्रथम अङ्ग है, उसका अर्थ है- साध्य निर्देश करना। जब साध्य तथा साधन का तादात्म्य {अभेद} है, तो साध्य का निर्देश करने से साधन का भी निर्देश हो जाएगा, किन्तु साध्य तो असिद्ध है, अतः हेतु भी असिद्ध हो जाएगा, जो कि हेतु का दोष है। अतः तादात्म्य से स्वभाव-प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि परमार्थ सत् वस्तु {स्वलक्षण} की दृष्टि से यहाँ साध्य और साधन में तादात्म्य बतलाया गया है। यह स्वलक्षण केवल निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है, किन्तु साध्य-साधन-भाव का निश्चय तो सविकल्पक ज्ञान द्वारा होता है। ⟶

---

1. "यद्यपि च वृक्षत्वशिंशपात्वे परमार्थतो न भिन्ने, तथापि भेदान्तरप्रतिक्षेपाप्रतिक्षेपाभ्यां कल्पितभेदयोर्गम्यगमकभाव इति।" {न्या०वा०ता०टी०} न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 308, पं० 6-8.

2. धर्मोत्तरप्रदीप :- पृ० सं० 113 " प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः....... वैधर्म्यमाह ।"

→ उस निश्चयात्मक ज्ञान से जिस वस्तु का भास होता है, उसमें साध्य और साधन का भेद रहता है। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से दोनों का तादात्म्य है, किन्तु विकल्पजन्य आरोप के कारण (या व्यावहारिक दृष्टि से) दोनों का भेद है ही।

अब एक और भी शङ्का हो सकती है कि जहाँ कार्यहेतु से कारण का बोध होता है, वहाँ तो कार्य को कारण के आश्रित (प्रतिबद्ध) कहा जा सकता है, किन्तु स्वभावहेतु का तो अपने साध्य के साथ तादात्म्य होता है, दोनों में अभेद होता है, फिर वहाँ हेतु को साध्य में प्रतिबद्ध कैसे कहा जा सकता है?

इसका समाधान धर्मोत्तर[1] ने यह किया है कि यद्यपि स्वभावहेतु के स्थल पर हेतु और साध्य दोनों का समान रूप से तादात्म्य है तथापि एक वस्तु के दो स्वभावों में से जो नियत रूप से दूसरे पर आश्रित होता है, कहीं भी उसके बिना नहीं रह सकता, वही प्रतिबद्ध होता है और दूसरा प्रतिबन्ध का विषय। इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध होने पर भी जो पराश्रित (प्रतिबद्ध) है, वही हेतु होता है। धर्मोत्तर ने इस कथन पर विशेष बल दिया है कि नियत विषय में ही साध्य-साधन-भाव होता है, अन्य प्रकार से नहीं। इससे प्रकट होता है कि धर्मोत्तर के मत में नैयायिक आदि ने जो अव्यभिचरित साहचर्य के आधार पर अनियत (असंख्य) प्रकार का साध्य-साधन-भाव माना है, यह युक्तिसङ्गत नहीं है।

पुन: नैयायिकों की ओर से शङ्का की जाती है कि बौद्ध केवल दो ही सम्बन्धों से अविनाभाव-सम्बन्ध मानते हैं:- तादात्म्य से या तदुत्पत्ति से। परन्तु अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ व्याप्ति तो होती है, →

→

1. द्रष्टव्य :- " स च .... नान्यथेति । "
न्यायबिन्दुटीका, 2/21, पृ० सं० 133.

→ किन्तु इन दोनों में से कोई भी निमित्त नहीं होता ; जैसे चन्द्रोदय को देखकर समुद्र की वृद्धि तथा कुमुद-विकास का अनुमान किया जाता है और शरद् ऋतु में निर्मल जल को देखकर अगस्त नक्षत्र के उदय का अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार के अनेक उदाहरण लोक और शास्त्र में विद्यमान हैं, अतः नियत साहचर्य मात्र से व्याप्ति मानना उचित है, केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नहीं।

इसके समाधान में बौद्ध-न्याय का विचार है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही अविनाभाव सम्बन्ध होता है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा कोई पदार्थ किसी का भी साधक (लिङ्ग) होने लगेगा। नैयायिक द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में जहाँ कहीं साक्षात् या परम्परया तादात्म्य और तदुत्पत्ति-इनमें से कोई निमित्त विद्यमान हैं, वहाँ इसी आधार पर अविनाभाव सम्बन्ध माना जा सकता है ; जैसे :- "जल की निर्मलता" यह तो अगस्तोदय का कार्य ही है। यद्यपि समुद्रवृद्धि या कुमुदविकास चन्द्रोदय का साक्षात् कार्य नहीं है, तथापि उन दोनों (चन्द्रोदय और समुद्र वृद्धि आदि) की उत्पत्ति एक सामग्री के अधीन है। एक ही महाभूतविशेष से उन दोनों की उत्पत्ति होती है। इसलिए यहाँ भी परम्परया "तदुत्पत्ति" निमित्त है ही। इसी प्रकार किसी आम्रफल आदि के रूप को देखकर जो उसके मधुर आदि रस का अनुमान किया जाता है, वहाँ भी एक सामग्री के अधीन होने के कारण "तदुत्पत्ति" नामक निमित्त होता है।[1]

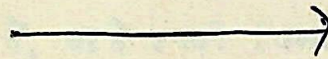
इसके विपरीत जहाँ इन दोनों निमित्तों में से कोई भी नहीं, ~~वहाँ होता~~, →



1. द्रष्टव्य :- पृ० सं० ६७

वहाँ अविनाभाव-सम्बन्ध ही नहीं होता, जैसे उमड़े मेघों को देखकर भावी वर्षा का अनुमान करना युक्तिसङ्गत नहीं, क्योंकि यह भी सम्भव है कि किसी कारण से वर्षा न हो। वस्तुतः कारण से कार्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। इस विषय का विशद विवेचन पं0 दुर्वेक मिश्र ने किया है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नकीर्ति से पूर्व बौद्ध तथा नैयायिक-वैशेषिक एवं मीमांसकों के बीच व्याप्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त विवाद रहा तथा "व्याप्ति" की विभिन्न नई-नई व्याख्यायें होती रहीं। रत्नकीर्ति के गुरु ज्ञानश्रीमित्र ने भी "व्याप्ति" पर "व्याप्तिचर्चा" नामक निबन्ध में बौद्ध-दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा-दर्शन के बीच व्याप्ति-सम्बन्धी विवाद का अच्छा चित्रण किया है।



1. "ननु वासत्यपि .... प्रसज्येतेति।" धर्मोत्तरप्रदीप, पृ0 सं0 115-116.

==:==

"पंचम अध्याय"

"रत्नकीर्ति का व्याप्तिनिर्णय: " :-

रत्नकीर्ति नामक बौद्ध विद्वान, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए, ज्ञानश्रीमित्र के शिष्य थे। ज्ञानश्रीमित्र ने भी "व्याप्ति" पर "व्याप्ति-चर्चा" नामक निबन्ध लिखा है। रत्नकीर्ति ने कई निबन्ध लिखे, यथा :- सर्वज्ञसिद्धि:, ईश्वरसाधनदूषणम्, अपोहसिद्धि:, क्षणभङ्गसिद्धि:, :- अन्वयात्मिका, क्षणभङ्गसिद्धि:, :- व्यतिरेकात्मिका, प्रमाणान्तर्भावप्रकरणम्, व्याप्तिनिर्णय: , स्थिरसिद्धिदूषणम्। प्रो० अनन्तलाल ठाकुर ने इन सभी निबन्धों को "तिब्बतन संस्कृत वर्क्स सीरीज" में रत्नकीर्ति-निबन्धावलि:" नाम से सम्पादित किया है। ये सभी निबन्ध प्राय: न्याय की विषय-वस्तु से सम्बद्ध हैं, चाहे इनकी विषयवस्तु सीधी न्याय के विषय से सम्बद्ध नहीं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से ये निश्चित न्याय के विषयों से सम्बद्ध हैं।

इन सभी निबन्धों में रत्नकीर्ति का "व्याप्तिनिर्णय:" नामक निबन्ध प्रत्यक्ष रूप से न्याय के विषय से सम्बद्ध है। इस निबन्ध में लेखक ने बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा-दर्शन के बीच हुए व्याप्तिविषयक-विवाद का चित्रण किया है। मुख्य रूप से दिङ्नाग से लेकर ही जो बौद्धों तथा नैयायिकों में वैचारिक संघर्ष चला आ रहा था, उसी को इन्होंने भी आगे बढ़ाया। इस निबन्ध में रत्नकीर्ति ने पूर्वपक्ष के रूप में न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा दर्शन को रखा है, जिन्हें हम अपने निबन्ध में "आस्तिक-दर्शन" के रूप में व्यवहृत करेंगे तथा उत्तरपक्ष के रूप में "बौद्ध-दर्शन" स्वयं है, जिसे हम नास्तिक-दर्शन के रूप में वर्णित करेंगे।

इस निबन्ध में नास्तिक तथा आस्तिक दर्शनों के बीच न्याय के मुख्य विषय "प्रमाण-मीमांसा" के अनुमान-प्रमाण, के मुख्य अङ्ग "व्याप्ति" के विषय में विशद विवेचन करके पूर्वपक्ष के विचारों को खण्डित करते हुए व्याप्ति-सम्मत बौद्ध-मत प्रतिपादित किया गया है।

इस निबन्ध में आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के बीच विवाद के मुख्य विषय निम्नलिखित दर्शाये गये हैं :-

1. अनुमान का विषय :-

जैसा कि पहले भी बताया गया है, बौद्ध प्रत्येक प्रमाण का विषय दो प्रकार का मानते हैं:- ग्राह्य तथा अध्यवसेय। अनुमान का ग्राह्य विषय "सामान्यलक्षण" है तथा अध्यवसेय विषय "स्वलक्षण" है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष-प्रमाण का ग्राह्य-विषय स्वलक्षण तथा अध्यवसेय विषय सामान्यलक्षण। इन दोनों प्रमाणों के विषय परस्पर एक दूसरे के विषय-क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते, यही प्रमाण-व्यवस्था है, जिसे बौद्ध-दर्शन में माना गया है। दूसरी ओर आस्तिक-दर्शन "प्रमाण-सम्प्लव" को मानते हैं, परन्तु कुछ हद तक ये "प्रमाण-व्यवस्था" के भी पक्षपाती हैं।

2. व्याप्ति-सम्बन्ध :-

रत्नकीर्तिकृत "व्याप्तिनिर्णयः" में विवाद का दूसरा मुख्य विषय है :- "व्याप्ति-सम्बन्ध" किन दो पदार्थों के बीच हो सकता है ? बौद्धों का मत है कि जिन दो पदार्थों के बीच में तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति-सम्बन्ध हो, वहीं "व्याप्ति-सम्बन्ध" हो सकता है, अन्यत्र नहीं। नैयायिक कहते हैं कि जहाँ स्वाभाविक अर्थात् निरुपाधिक सम्बन्ध हो, वहीं व्याप्ति-सम्बन्ध होता है। उसके लिए तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति की सीमा बाँधने की आवश्यकता नहीं है।

3. व्याप्ति-ग्रहण के उपाय :-

प्रस्तुत निबन्ध में दर्शित अन्य विवाद के मुख्य विषय हैं :- "व्याप्ति-ग्रहण" कैसे होता है ? इस विषय में बौद्ध दार्शनिक तीन तत्त्वों को मानते हैं :- 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुपलब्धि, 3. प्रत्यक्षपृष्ठ-भावी विकल्प ।

भाव पदार्थों का व्याप्ति-ग्रहण प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प के आधार पर होता है तथा अभाव पदार्थों का व्याप्ति-ग्रहण अनुपलब्धि के आधार पर होता है। इसके विपरीत नैयायिक-मीमांसक आदि "भूयोदर्शन" को व्याप्ति-ग्रहण का कारण मानते हैं। इसी के द्वारा अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक-व्याप्ति का निश्चय होता है। "भूयोदर्शन" में न केवल हेतु व साध्य का साहचर्य देखते हैं, अपितु "उपाधि" को भी खोजा जाता है। बौद्ध "भूयोदर्शन" के स्थान पर "सकृद्दर्शन" को ही व्याप्ति का कारण मानते हैं।

निबन्ध में वर्णित विषय-वस्तु का स्थूल रूप से दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अब हम मूल निबन्ध की विषय वस्तु पर आते हैं।

1. बौद्ध-मत :-

बौद्धों का मत है कि "अग्नि" आदि के साथ धूमादि अन्य वस्तु की व्याप्ति तदुत्पत्ति-स्वरूप वाली है। "तदुत्पत्ति" का अर्थ है-कार्यकारणभाव। "कार्य" से "कारण" का अनुमान लगाना ही "तदुत्पत्ति" है। "तस्मादुत्पत्तिः इति तदुत्पत्तिः ।" तात्पर्य यह है कि धूम तथा अग्नि में कार्य-कारण सम्बन्ध है। धूम की उत्पत्ति अग्नि से होती है, अतः धूम अग्नि का कार्य है तथा धूम व अग्नि की व्याप्ति तदुत्पत्ति के आधार पर ग्रहण की जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि यह व्याप्ति कार्य तथा कारण के साहचर्य के प्रत्यक्ष तथा व्यभिचार के अनुपलम्भ (अनुपलब्धि) के आधार पर ग्रहण की गई है।

हमने धूम को सदैव अग्नि के साथ देखा, कभी अग्नि से वियुक्त न देखा, यही अन्वय [तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्] तथा व्यतिरेक [तदभावे तदभाव:।] है, जिसे साहचर्य का प्रत्यक्ष तथा व्यभिचार का अनुपलम्भ भी कहा जा सकता है।

2. भट्टादि द्वारा बौद्ध-मत का खण्डन तथा स्वमत-स्थापना :-

बौद्धों के इस मत का कुमारिल भट्टादि खण्डन करते हैं। भट्टादि अग्नि वाले प्रदेश में धूम का "भूयोदर्शन" तथा अग्नि से रहित स्थान में धूम का अदर्शन, इस प्रकार अन्वय व व्यतिरेक की कल्पना करते हैं। भाट्ट-मत का तात्पर्य यह है कि "जहाँ-जहाँ अग्नि होगी, वहाँ-वहाँ धूम होगा।" इस तथ्य को जब हम बार-बार देखकर जानेंगे, तो हम धूम और अग्नि के "अन्वय" की कल्पना कर लेंगे। इसके विपरीत जहाँ अग्नि नहीं होगी, वहाँ धूम भी न होगा।" इस तथ्य के बार-बार दर्शन से हमें "व्यतिरेक" का निश्चय हो जायेगा। इस प्रकार भाट्ट-मत में "भूयोदर्शन" के आधार पर व्याप्ति का निश्चय होगा, न कि तदुत्पत्ति के आधार पर ।[1]

3. बौद्धों द्वारा भाट्ट-मत का खण्डन :-

भाट्ट-मत का खण्डन करते हुए बौद्ध कहते हैं कि यदि आप बार-बार दर्शन तथा अदर्शन के आधार पर व्याप्ति-ग्रहण मानते हैं, तो इस प्रकार व्याप्ति-ग्रहण मानने से घट तथा कुलटा आदि में व्यभिचार होगा, अर्थात् आपका व्याप्ति का लक्षण घट व कुलटा में भी चला जायेगा, क्योंकि वहाँ भी दर्शन और अदर्शन" है ही। हमने बार-बार किसी घट को कुलटा के साथ देखा, कुलटा के अभाव में घट को कभी न देखा, तो बार-बार दर्शन और अदर्शन के आधार पर यहाँ भी हमें अन्वय व व्यतिरेक का निश्चय होकर व्याप्ति-ग्रहण होने लगेगा तथा वहाँ भी व्याप्ति माननी पड़ेगी।

→ लक्षण

1. "अत्र च भट्टप्रभृतयो .... कल्पयाम्बभूवु: ।" "रत्नकीर्तिनिबन्धावलि:" पृ० सं० 106, पं० 2-4.

अब बौद्ध प्रश्न करते हैं कि यदि इस प्रकार घट व कुलटा में हमें व्याप्ति-निश्चय होने लगा, तो आपके {भाट्ट-मत} मतानुसार वहाँ भी इस व्याप्ति से घट से कुलटा का अनुमान होगा अथवा धूमादि में भी घट व कुलटा की भाँति व्यभिचार की शङ्का के कारण व्याप्ति नहीं बनेगी, न ही अनुमान होगा ? [1]

अपने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध स्वयं ही कहते हैं कि यहाँ पहला पक्ष अर्थात् घट वा कुलटा की व्याप्ति के आधार पर अनुमान का होना तो व्यभिचार के कारण निरस्त हो गया क्योंकि घट तथा कुलटा में सदैव साहचर्य नहीं पाया जाता। घट की पृथक् सत्ता है तथा कुलटा की पृथक्। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ "घट" होगा, वहाँ "कुलटा" भी होगी। कुलटा के अभाव में भी घट रह सकता है। वह कुलटा से अन्य किसी स्त्री के पास भी हो सकता है। अत: इस व्यभिचार के कारण हम कुलटा व घट में व्याप्ति मानकर अनुमान नहीं कर सकते।

अब बौद्ध अपने प्रश्न के दूसरे पक्ष को प्रकट करते हैं। दूसरा पक्ष भी व्यभिचार के कारण खण्डित हो गया। "धूमादि में भी घट व कुलटा की भाँति व्यभिचार, की शङ्का के कारण व्याप्ति नहीं बनेगी, न ही अनुमान होगा" यह पक्ष व्यभिचार के कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि धूमादि में कभी भी अग्नि आदि से साहचर्य का अभाव नहीं पाया जाता। दूसरा तर्क यह भी है कि किसी एक का व्यभिचार होने पर, अन्य का व्यभिचार नहीं मान सकते अर्थात् यदि घट व कुलटा में व्यभिचार है, तो हम अग्नि व धूम में भी व्यभिचार की कल्पना कर लें, यह युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता।



1. "किमेतावताऽत्राऽप्यनुमानमस्तु, तद्वा धूमादावपि मा भूत् ।"

रत्नकीर्तिनिबन्धावलि:, पृ० सं० 106, पं० 6.

→ साथ ही यह तथ्य भी विचारणीय है कि अग्नि व धूम में व्यभिचार होने पर सैकड़ों भी युक्तियाँ अथवा उसकी (व्याप्ति की) सार्थक विशिष्ट प्रत्यक्ष अथवा अनुपलब्धि भी अनुमान की उपयोगी नहीं होती, न ही अव्यभिचार के सम्भव होने पर भी "तदुत्पत्ति" से विशिष्ट प्रत्यक्ष को प्राप्त किए बिना केवल दिखाई देने व न दिखाई देने मात्र से ही अव्यभिचार की सिद्धि हो सकती है।

4. काशिकाकार का मत :-

इसके पश्चात् रत्नकीर्ति "श्लोकवार्तिक" के व्याख्याकार काशिकाकार के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं:- "पहले अनेक बार के दर्शन से उत्पन्न संस्कार की सहायता-प्राप्त अन्तिम चित्त से, धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है।" [1] काशिकाकार के मत का तात्पर्य है कि हमने अनेक बार धूम और अग्नि को साथ-साथ देखा। प्रत्येक बार धूम को अग्नि के साथ देखकर हमारे चित्त में एक संस्कार उत्पन्न होता गया कि धूम, अग्नि के साथ पाया जाता है। इस प्रकार अनेक पूर्वकालीन संस्कारों से युक्त अन्तिम चित्त से धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध है, यह निश्चय होता है।

5. त्रिलोचन का मत :-

वाचस्पति मिश्र के गुरु त्रिलोचन[2] भी "भूयोदर्शन" को ही व्याप्ति-ग्रहण का उपाय मानते हुए कहते हैं कि :-

प्रत्यक्ष व अनुपलब्धि के विशेष विषय वाला होने से, उन दोनों से सामान्यों का अर्थात् धूमत्व व अग्नित्व का कैसे सम्बन्ध-ज्ञान हो पायेगा ? जबकि अनग्नि से व्यावृत्त के साथ अधूम से व्यावृत्त का सम्बन्ध प्रतीत होता ही है[3] अर्थात् धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है ही। →

→

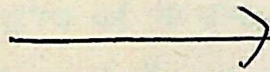
1. "प्राचीनानेकदर्शनजनितसंस्कारसहायेन चरमेण चेतसा धूमस्याग्निनियतत्वं गृह्यत इति ।" काशिका, भाग, 3, पृ० सं० 16.

2. "त्रिलोचनस्त्वाह .... सम्बन्धः ।" रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः, पृ०सं० 106, अनुच्छेद 3.

3. यहाँ त्रिलोचन ने 'अनग्नि' से व्यावृत्त' तथा 'अधूम से व्यावृत्त' कहकर बौद्धों के 'अपोहवाद' या 'सामान्य विषयक' धारणा को स्पष्ट किया है। अपोहवाद — द्रष्टव्य- पृ०सं० 28-29

→ यह सम्बन्ध फिर किस प्रमाण का विषय है ? अपने मत को अधिक स्पष्ट करते हुए त्रिलोचन कहते हैं कि यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष, बौद्धों के मत में "स्वलक्षणविषयक" है, जबकि सामान्य कई वस्तुओं में समानता की प्रतीति या बौद्धों के अनुसार अतद्व्यावृत्ति-रूप है। न ही सामान्य का यह सम्बन्ध अनुमान का विषय हो सकता है, क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक [4] ही होता है। अतः "व्यावृत्तियों" में अर्थात् अधूम से व्यावृत्त का अनग्नि से व्यावृत्त के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता, जबकि धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध है, यह बौद्ध भी मानते हैं।

यदि आप (बौद्ध) यह कहें कि प्रत्यक्ष के बाद में होने वाला विकल्प, भेद दिखाई देने पर जिस अभेद का निश्चय करता है, वही "सामान्य" है और ऐसा मानकर हम सामान्य की सम्बन्ध-प्रतिपत्ति कर लेंगे, तो यह भी उचित नहीं क्योंकि आपके (बौद्धों के) मत में तो विकल्पों का विषय "वस्तु" है ही नहीं, अपितु विकल्पों का विषय तो ग्राह्याकार है और ग्राह्याकार वस्तु नहीं है। आपके मत में वस्तु तो परोक्ष ही है, अतः उससे सम्बन्ध-ग्रहण कैसे हो सकता है ?



~~3. यहाँ त्रिलोचन ने "अनग्नि" से व्यावृत्त तथा "अधूम" से व्यावृत्त" कहकर बौद्धों के "अपोहवाद" या सामान्यविषयक धारणा को प्रकट किया है।~~

~~"अपोहवाद" :- द्रष्टव्य पृ० सं० 31.~~

4. " अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ।।"

न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 291., न्यायसूत्र 1/1/5.

तत्पश्चात् अपने मत की पुष्टि करते हुए त्रिलोचन कहते हैं कि हमारे मत में तो बार-बार दर्शन की सहायता-प्राप्त मन से उस जाति वाले समस्त पदार्थों का सम्बन्ध-ग्रहण हो जाता है अतः धूम व अग्नि का व्यभिचार नहीं होता। धूम का अग्नि के साथ सदैव साहचर्य पाया जाता है।

अब यदि आप यह शङ्का करें कि धूम का अग्नि के साथ व्यभिचार होने पर धूम उपाधिरहित सम्बन्ध का अतिक्रमण कर देगा, तो यह उचित नहीं, क्योंकि प्राप्त उपाधि के अनुपलब्ध होने का कारण तो "अनुपलब्धि" नामक प्रत्यक्ष ही है, जिसका स्वरूप "उपलब्धि" है। अर्थात् धूम का यदि अग्नि के साथ व्यभिचार होता है तथा हमें "उपाधि" दिखाई नहीं देती, तो यह अनुपलब्धि {अभाव} नामक "प्रत्यक्ष" ही है। ऐसा नहीं है कि धूम उपाधिरहित सम्बन्ध का अतिक्रमण कर जाए। अतः स्वाभाविक-सम्बन्ध सिद्ध ही है। इस प्रकार त्रिलोचन ने विविध तर्कों को रखते हुए अपने मत की पुष्टि तथा बौद्ध-मत का खण्डन किया।

6• त्रिलोचन के मत का खण्डन :-

त्रिलोचन के इस मत का रत्नकीर्ति ने अत्यन्त बलपूर्वक खण्डन किया है।[1] रत्नकीर्ति कहते हैं कि आपने {त्रिलोचन ने} जो यह कहा कि हमारे मत में सामान्य का सम्बन्ध ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि हम प्रत्यक्ष को "स्वलक्षणविषयक" मानते हैं तथा अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है, अतः यह सम्बन्ध किसी भी प्रमाण का विषय नहीं बन सकता, यह उचित नहीं है। रत्नकीर्ति, त्रिलोचन के मत के विषय में प्रश्न करते हुए कहते हैं कि यदि "प्रत्यक्ष स्वलक्षणविषयक" है", यह बात आपने {त्रिलोचन ने} "अयोगव्यवच्छेद" {अप्राप्ति का खण्डन अर्थात् प्राप्ति} से कही है, तो सिद्ध का ही साधन हो गया।

1• " त्रिलोचनचोद्येऽपि ब्रूमः । .... यावितमण्डनत्वाद्विति।"
रत्न० निब०, पृ० सं० 109, अनुच्छेद:- 2•

और यदि यह बात आप "अन्ययोगव्यवच्छेद" (अन्य की प्राप्ति का खण्डन) से कहते हैं, तो असिद्ध है क्योंकि ऐसा कहने से प्रत्यक्ष तथा अनुमान के दो प्रकार के विषय-ग्राह्य और अध्यवसेय का उल्लंघन होगा। तात्पर्य यह है कि अनुमान का भी अध्यवसेय तो "स्वलक्षण" ही है, फिर आप "अयोगव्यवच्छेद" से कैसे इस बात को कह सकते हैं? इस प्रकार रत्नकीर्ति ने त्रिलोचन के "प्रत्यक्ष स्वलक्षणविषयक" है" इस युक्ति को निरस्त कर दिया। अब रत्नकीर्ति ग्राह्य तथा अध्यवसेय का रूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो जहाँ ज्ञान से प्रतिभासित होता है, वह "ग्राह्य" है। जहाँ प्रमाता प्रवृत्त होता है, वह "अध्यवसेय" है।[1] प्रत्यक्ष का "स्वलक्षण" ग्राह्य है तथा "सामान्य" अध्यवसेय है, जो कि "अतद्रूपपरावृत्त-स्वलक्षणमात्र"[2] (जो वह रूप नहीं है, उससे भिन्न स्वलक्षण-मात्र) स्वरूप वाला है। अनुमान-प्रमाण का इससे विपरीत अर्थात् अनुमान में ग्राह्य "सामान्य" और अध्यवसेय "स्वलक्षण" है। इसीलिए सांव्यवहारिक प्रमाण की अपेक्षा से रूप, गन्ध, स्पर्श समुदायात्मक घट का रूप-भेद मात्र ग्रहण करने पर भी, प्रत्यक्ष रूप से समुदाय-सिद्धि की व्यवस्था होती है। इसी प्रकार एक "अतद्रूपपरावृत्त" (स्वलक्षण) के ग्रहण करने पर भी, साध्य और साधन दोनों सामान्यों का, जो कि अयोगव्यवच्छेद से विषय बने हुए हैं तथा "अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्र" हैं, व्याप्तिग्रहण उचित ही है।

"त्रिलोचन का दूसरा तर्क अर्थात् "विकल्पों का अवस्तु ही विषय है। वस्तु तो विकल्पों के परोक्ष में है"।" इसे भी खण्डित करने हेतु रत्नकीर्ति कहते हैं कि यह ज्ञान भी दुर्ज्ञान है, क्योंकि अध्यवसेय की अपेक्षा से तो सभी विकल्प वस्तु-विषयक ही हैं।

1. "यद्धि यत्र ज्ञाने प्रतिभासते तद् ग्राह्यम्। यत्र तु" तद् प्रवर्तते तदध्यवसेयम्" रत्न०निब० पृ० सं० 109.

2. "अतद्रूपपरावृत्तस्वलक्षणमात्र" से बौद्धों के "अपोहवाद" का स्पष्ट स्वरूप ज्ञात होता है।

→ शास्त्र में भी ऐसा ही प्रतिपादन हुआ है। अर्थात् बौद्ध-दर्शन में भी यही माना गया है कि सभी विकल्प अध्यवसेय की अपेक्षा से वस्तुविषयक हैं।

त्रिलोचन का यह मन्तव्य कि "हम तो बार-बार दर्शन की सहायता-प्राप्त मन से उस जाति वाले समस्त पदार्थों का सम्बन्ध-ग्रहण कर लेंगे" इसे भी खण्डित करते हुए रत्नकीर्ति ने कहा है कि मन से उस जाति वाले सभी पदार्थों का व्याप्तिग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि मन बाहर के विषयों में स्वतन्त्र नहीं है। यदि मन बाहर के विषयों को ग्रहण करने में स्वतन्त्र होता, तो संसार में कोई अन्धा तथा बहरा भी न होता।"

तत्पश्चात् रत्नकीर्ति त्रिलोचन के मत को पूर्णरूप से निरस्त कर देने के उद्देश्य से कहते हैं कि न ही यह कहना उचित है कि अग्नि का व्यभिचार होने पर धूम उपाधिरहित सम्बन्ध का अतिक्रमण कर देगा, क्योंकि स्वकपोल-कल्पित ~~स्वाभाविक~~-स्वाभाविक-सम्बन्ध तो "याचितकमण्डन" (माँग कर पहने हुए आभूषणों से सज्जित) के समान है। तात्पर्य यह है कि रत्नकीर्ति का मन्तव्य है कि आप (त्रिलोचन) स्वयं तो तदुत्पत्ति, तादात्म्य आदि के आधार पर व्याप्ति का ग्रहण मानते नहीं हो, परन्तु फिर भी किसी न किसी रूप में आपको (नैयायिकों को) भी इन्हें मानना ही पड़ता है, अतः यह आपके लिए "याचितकमण्डन" के समान है। इस प्रकार त्रिलोचन के मत का रत्नकीर्ति ने उपहास किया है।

7. वाचस्पति मिश्र का मत :-

इसके पश्चात् रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र[1] के व्याप्तिसम्बद्ध मत पर आते हैं। रत्नकीर्ति कहते हैं कि वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार धूमादि का अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। →

---

1. द्रष्टव्य :- न्या०वा०ता०टी०, न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 309-310.

अग्नि आदि का धूमादि के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध नहीं है। अग्नि आदि तो धूमादि के बिना भी उपलब्ध होते हैं। अग्नि आदि तो जब "आर्द्रेन्धन-संयोग" का अनुभव करते है, तब धूमादि के साथ सम्बन्धित होते हैं। अग्नि आदि का धूमादि के साथ औपाधिक सम्बन्ध है, स्वाभाविक नहीं। यहाँ स्पष्ट दिखाई देने वाली "आर्द्रेन्धनसंयोग" उपाधि है। इसलिए अग्नि आदि का धूमादि के साथ सम्बन्ध अनियत है। धूमादि का अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध है, क्योंकि वहाँ उपाधि प्राप्त नहीं होती। धूमादि का अग्नि आदि के साथ सदैव साहचर्य होने से तथा व्यभिचार न दिखाई देने के कारण न प्राप्त होने वाली उपाधि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। और न ही ऐसा कहना उचित है कि न दिखाई देती हुई भी उपाधि, दर्शन की अयोग्यता के कारण, उपलब्धि (उपाधि की उपलब्धि) के साधक व अनुपलब्धि के बाधक प्रमाण के अभाव में सन्देह की जाती हुई, व्याप्ति-सम्बन्ध के स्वाभाविकत्व को रोकती है। तात्पर्य यह है कि वाचस्पति मिश्र के मत में, यदि उपाधि होगी, तो वह अवश्य दिखाई देगी, अतः न दिखाई देने पर उपाधि के होने की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

बौद्ध कहते हैं कि तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति वाले नियामक-तत्त्व को न देखने वाले को अवश्य ही उपाधि की शङ्का करनी चाहिए।[1]

नैयायिकों का कहना है कि इस प्रकार यदि शङ्का रूपी पिशाची को अवकाश दे दिया जाए, तो लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण होने से अत्यन्त विस्तार को प्राप्त हुई शङ्का सर्वत्र है, ऐसा विचार करके प्रमाता कहीं भी प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि सर्वत्र ही किसी अनर्थ की किसी न किसी प्रकार शङ्का लगी ही रहेगी और अनर्थ की शङ्का बुद्धिमानों के लिए निवृत्ति का कारण होती है अर्थात् विचारशील व्यक्ति उस कार्य में कभी प्रवृत्त नहीं होते, जहाँ अनर्थ की शङ्का होती है।

---

1. "अवश्यं शङ्कया भाव्यं नियामकमपश्यताम्।" न्या०वा०ता०टी० न्यायदर्शनम्, पृ० सं० 309, पं० 21.

→ क्योंकि अच्छा, पौष्टिक भोजन आदि खाने-पीने पर भी सभी प्राणियों की मृत्यु ही देखी जाती है, अतः यदि सर्वत्र ही अनर्थ की शङ्का की जाए, तो यह लोक-यात्रा ही न चले, अतः प्रामाणिक लोक-यात्रा का अनुसरण करते हुए, जो दिखाई देता है, उसी की शङ्का करनी चाहिए। पहले कभी न देखे हुए की शङ्का नहीं करनी चाहिए। संशय भी विशेष स्मृति के आधार पर ही होता है, बिना स्मृति के संशय भी नहीं होता और बिना अनुभव के स्मृति नहीं होती, अतः न देखे हुए विषय में कभी भी शङ्का न करनी चाहिए। इसीलिए मीमांसावार्तिककार कुमारिल भट्ट ने कहा है :-

" आशङ्का बिना प्रमाण के नहीं होती।" 1.

इसलिए "उपाधि" को प्रयत्नपूर्वक खोजते हुए, न प्राप्त होने पर, "उपाधि नहीं है" ऐसा जानकर उपाधि-सम्बन्ध के स्वाभाविकत्व का निश्चय करते हैं।

वाचस्पति-मिश्र के अनुसार इस नैयायिक मत का खण्डन करते हुए बौद्ध कह सकते हैं, आपकी (नैयायिकों की) बात सही हो सकती है, किन्तु एक वस्तु का यदि दूसरी वस्तु के साथ बिना किसी कारण के ही स्वाभाविक-सम्बन्ध हो जाये, तो सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं के साथ स्वभाव से ही सम्बद्ध हो जायेंगी। सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं से अनुमित हो जायेंगी।

बौद्धों की अपनी इस आपत्ति को नैयायिक उन्हीं के सिद्धान्त पर आरोपित करते हुए कहते हैं कि यही बात हम आप पर भी लागू कर सकते हैं। यदि एक वस्तु का दूसरी वस्तु कार्य है, तो सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं से क्यों नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि "अन्यत्व" नामक गुण तो सभी वस्तुओं में समान है। सभी वस्तुएँ परस्पर अन्य हैं। ऐसा होने पर (सभी से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होने पर) वही अतिप्रसङ्ग हो जायेगा अर्थात् जो आपने (बौद्धों ने) हम (नैयायिकों) पर सभी का सभी के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध हो जाने का दोषारोपण किया है, वह आप पर भी लागू हो जायेगा।

---

1. 'नाशङ्का निःप्रमाणिका।' 'रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः' में उद्धृत कुमारिल-भट्ट का मत, पृ० सं० 107.

यदि आप {बौद्ध} यह कहें कि भाव-पदार्थों के विषय में अधिक छानबीन नहीं करनी चाहिए, तो "अन्यत्व" नामक गुण सभी वस्तुओं में समान होने पर भी कोई वस्तु "कारण" ही होगी और "कार्य" कोई वस्तु होगी। इसके अलावा यदि आप {बौद्ध} यह कहें कि परस्पर भिन्न तथा अकार्यकारण हुए भी भाव-पदार्थों से सम्बद्ध यह प्रश्न "स्वभाव-प्रतिबन्ध" अर्थात् "व्याप्ति-सम्बन्ध" में भी समान ही है अर्थात् "स्वभाव-प्रतिबन्ध" के विषय में भी अधिक छानबीन नहीं करनी चाहिए, तो यह व्याप्ति-सम्बन्ध भी तुच्छ {उपेक्षणीय} वस्तु ही हुआ।

नैयायिकों के, बौद्धों के "स्वभाव प्रतिबन्ध" को ही तुच्छ वस्तु कहकर खण्डन करने पर बौद्ध पूछते हैं कि किस प्रमाण से यह "स्वाभाविक-सम्बन्ध" ग्रहण किया जाता है ?

नैयायिक उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष से सम्बद्ध पदार्थों में "प्रत्यक्ष-प्रमाण" से व्याप्ति-सम्बन्ध का ग्रहण किया जाता है, जैसा कि दैनिक जीवन में हम देखते ही हैं कि स्फटिक मणि की चमक के समान बार-बार दर्शन से जनित संस्कार की सहायता-प्राप्त इन्द्रिय ही धूमादि के अग्नि आदि के साथ स्वाभाविक-सम्बन्ध का ग्रहण कराती है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से ज्ञात सम्बन्धों वाली वस्तुओं में भी भूयोदर्शन की सहायता-प्राप्त प्रमाणान्तर ही पहले के समान स्वाभाविक-सम्बन्ध ग्रहण करने में प्रमाण, मानने चाहिए। इसके अलावा दूसरी बात यह है कि "हेतु" अपने "साध्य" से स्वभाव से ही सम्बद्ध रहता है। "यदि "हेतु", "साध्य" से रहित हो, तो वह अपने स्वभाव से ही स्खलित हो जायेगा" इस प्रकार तर्क की सहायता-प्राप्त हेतु तथा साध्याभाव के रहने के विषय में सन्देह को खण्डित करने वाला हेतु अर्थात् "साध्य" वाला हेतु, जहाँ वर्तमान है, वहाँ अपने "साध्य" को उपस्थित करता ही है। तात्पर्य यह है कि "हेतु" सदैव "साध्य" से प्रतिबद्ध रहता है। इस प्रकार हम अन्य प्रमाण {अनुमान "आदि} से भी स्वाभाविक-सम्बन्ध का ग्रहण कर सकते हैं।

8. बौद्धों द्वारा नैयायिक-मत का खण्डन :-

बौद्ध, नैयायिकों के उपर्युक्त मत का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं, कि हेतु व साध्य में भेद होने पर तदुत्पत्ति (कार्य-कारण भाव) ही "व्याप्ति" है। बौद्धों के कथन का तात्पर्य यह है कि यदि आप (नैयायिक) हेतु व साध्य को पृथक्-पृथक् मानते हो, तो "कार्य-कारण-भाव" ही व्याप्ति-ग्रहण का साधन हुआ, न कि भूयोदर्शन। स्वतः अविनाभाव स्वभाव वाली, स्वाभाविक सम्बन्धरूप यह व्याप्ति या अन्य कोई व्याप्ति भूयोदर्शन-मात्र से सिद्ध नहीं होती। जैसे कि बौद्ध पूछते हैं कि जहाँ भूयोदर्शन-प्रवृत्ति है, वहाँ नियमित व्यवस्था (स्वाभाविक-सम्बन्ध या व्याप्ति) है अथवा जहाँ नियमित-व्यवस्था है, वहीं भूयोदर्शन-प्रवृत्ति है ?

अपनी इस शङ्का के विषय में बौद्ध इन दोनों पहलुओं पर विचार करते हुए कहते हैं कि प्रथम पक्ष में अर्थात् "जहाँ भूयोदर्शन की प्रवृत्ति है, वहाँ नियमित-व्यवस्था है" इस पक्ष को यदि हम मानें, तो "घट" से भी "कुलटा" का अनुमान हो जायेगा तथा "पार्थिवत्व" से भी "लोहलेख्यत्व" की सिद्धि हो जायेगी * (जो-जो वस्तु पार्थिव है, वह-वह लोहे से कुरेदे जाने योग्य भी है।) क्योंकि यहाँ भूयोदर्शन है ही और भूयोदर्शन सम्भव होने से नियमित-व्यवस्था अर्थात् व्याप्ति-सम्बन्ध भी सम्भव है।

पुनः बौद्ध शङ्का करते हैं कि यदि आप (नैयायिक) यह कहें कि व्यभिचार-दर्शन के कारण ऐसा नहीं कह सकते अर्थात् भूयोदर्शन से साहचर्य दिखाई देने पर भी घट व कुलटा में, पार्थिवत्व व लोहलेख्यत्व में कहीं न कहीं हमें अवश्य व्यभिचार-दर्शन होता है£, अतः घट-कुलटा तथा पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्व में व्याप्ति नहीं बन सकती, तो यह व्यभिचार-दर्शन किसका है ? किसी भी व्यक्ति का, शास्त्रकार का अथवा प्रमाता का ?

प्रथम पक्ष में अर्थात् यदि किसी भी व्यक्ति को व्यभिचार-दर्शन हो जाये, तो उससे प्रमाता को क्या लाभ ? क्योंकि प्रमाता तो अनुमान कर ही नहीं रहा, अन्य व्यक्ति ही अनुमान कर रहा है, तो जिसे व्यभिचार-दर्शन हुआ, लाभ भी उसे ही होगा, न कि प्रमाता को। अन्यथा दूसरे व्यक्ति के उस विषय को प्रत्यक्ष करने से ही यदि प्रमाता भी कृतार्थ हो जाए तो उसे अनुमान को खोजने की आवश्यकता ही क्या ? जैसा कि हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि यदि बिना परिश्रम किए ही फल प्राप्त होता हो, तो परिश्रम करना कौन चाहता है ?

अब बौद्ध अपनी शङ्का के द्वितीय-पक्ष को रखते हुए कहते हैं कि न ही आप्तवचन से अव्यभिचार-दर्शन से अनुमान होता है, क्योंकि "आप्त" { यथार्थ वक्ता, असंदिग्ध वचन बोलने वाला } का निश्चय करना असम्भव है, अत: "आप्त" की अन्यत्र सिद्धि करनी पड़ेगी। दूसरी बात यह भी है कि शास्त्रकार से पूछकर, धूम व अग्नि का सम्बन्ध देख लिये जाने पर भी प्रमाता धूम से अग्नि का ज्ञान करेगा, यह अलौकिक है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रमाता को अवश्य रहता हुआ भी व्यभिचार दृष्टिगोचर हो ही और यह भी आवश्यक नहीं है कि जहाँ व्यभिचार हो, वहीं उसी काल व देश में व्यभिचार की अवश्य प्रतीति हो ही। हम यह भी नहीं कह सकते कि प्रतीति न होने से वह वस्तु है ही नहीं क्योंकि व्यभिचार के वर्तमान रहने पर भी "दर्शन-सामग्री"[1] के अभाव के कारण उसका दर्शन नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अत्यन्त चिरकाल तक व्यवधान रहने पर भी न दिखाई देने से तथा अत्यन्त चिरकाल पश्चात् व्यभिचार-दर्शन से हम यह नहीं कह सकते कि "व्यभिचार" है ही नहीं। जैसे :- किसी ब्राह्मण के साथ हमने किसी स्त्री को बार-बार देखा। ⟶

---

1. "अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ।। "
सांख्यकारिका सं० 7.

इस कारिका में कपिल मुनि ने कोई वस्तु क्यों दिखाई नहीं देती, इसके कारण बताये हैं।

→ हम सदैव उसे "ब्राह्मणी" समझते रहे। अत्यन्त चिरकाल पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि वह ब्राह्मणी नहीं, अब्राह्मणी है। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि व्यभिचार तो आरम्भ से ही था, परन्तु हमें ज्ञात न हुआ। अत्यन्त चिरकाल पश्चात् हमें व्यभिचार-दर्शन हुआ, परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि व्यभिचार नहीं है। इस प्रकार बौद्धों ने शास्त्रकार को व्यभिचार-दर्शन होता है, इस पक्ष का भी खण्डन कर दिया।

इसके पश्चात् बौद्ध अपनी शङ्का के तृतीय तथा अन्तिम पक्ष पर दृष्टिपात करते हैं। बौद्धों का कहना है कि यदि प्रमाता को व्यभिचार-दर्शन हो, तो प्रमाता ही घट व पार्थिव में प्रवृत्त होता है अर्थात् प्रमाता घट से कुटा की व पार्थिवत्व से लोहलेख्यत्व की सिद्धि करने में प्रवृत्त होता है। अतः इस विषय में हमारी (बौद्धों की) शङ्का यह है कि प्रमाता उसी समय व्यभिचार दर्शन कर लेता है अथवा क्रमशः व्यभिचार-दर्शन करता है ? यदि प्रमाता किसी भी प्रकार साध्य की सिद्धि करने में प्रवृत्त होता है अथवा प्रवृत्त होने पर भी सामग्री के अभाव के कारण व्यभिचार नहीं देख पाता, तो वह वज्र को लोहे से काटने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि वज्र भी पार्थिव है तथा पार्थिवत्व का लोहलेख्यत्व के साथ भूयोदर्शन प्रमाता को हो ही चुका है। अतः यह तो बड़े पाण्डित्य की बात होगी कि वज्र को लोहे से काटने का असमर्थ प्रयत्न करने पर स्पष्टतः ही प्रमाता का अपमान हो जाएगा।

इस प्रकार अपनी शङ्का के तीनों पक्षों पर विचार करते हुए अन्त में अपने मत की पुष्टि करते हुए बौद्ध कहते हैं कि यदि व्यभिचार के अदर्शन से अनुमान हो, तो अदृष्ट व्यभिचार वाले प्रमाता को घट से कुटा का तथा पार्थिवत्व से लोहलेख्यत्व का भी अनुमान होगा। →

→ अतः अदर्शन-मात्र से व्यभिचार का अभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही सर्वत्र अभाव की सिद्धि में कारण होती है। इसलिए अधिक बार सहचार-दर्शन मात्र से न तो हेतु के व्यभिचारी होने का, न ही अव्यभिचारी होने का निश्चय होता है, अतः शङ्का का अवसर है।

पुनः बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए नैयायिक शङ्का करते हैं कि यदि आप (बौद्ध) यह मानते हैं कि व्यभिचार के अदर्शन से अनुमान नहीं होता, तो व्यभिचार के न दिखाई देने के कारण धूम से अग्नि का अनुमान भी नहीं होना चाहिए।

बौद्ध प्रतिपक्षी की शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का शङ्कावकाश सदैव तदुत्पत्ति से रहित व्याप्ति में ही सम्भव होता है अर्थात् तदुत्पत्ति से रहित व्याप्ति में ही धूम से अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता। हमारे (बौद्धों के) मत में तो 'तदुत्पत्ति' मानने के कारण धूम से अग्नि का अनुमान हो जाता है। कभी प्रमाता साध्य की सिद्धि में प्रवृत्त हुआ व्यभिचार देखता है और यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि जहाँ भूयोदर्शन है, वहाँ नियमित-व्यवस्था नहीं होती, तो "धूम" में स्वाभाविक-सम्बन्ध की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

बौद्धों की इस शङ्का के समाधान में नैयायिक कहते हैं कि यदि ऐसा है तो जिस प्रकार द्विचन्द्रादि में चक्षुरादि का प्रत्यक्ष मलिन पारूप वाला है, तो घटादि का, "प्रत्यक्ष" भी नहीं होगा, "अनुमान" की तो बात ही क्या ? क्योंकि एक स्थान पर प्रत्यक्ष मलिन पारूप वाला हो चुका है, अतः सर्वत्र उसका विश्वास नहीं किया जा सकता।

बौद्ध कहते हैं कि ऐसा नहीं है क्योंकि "प्रत्यक्ष" इन्द्रियविषयक कार्य है। द्विचन्द्रादि का ज्ञान अर्थकार्यत्व के अभाव के कारण ऐसा नहीं है, इसलिए परस्पर भिन्न लक्षण होने से अर्थात् द्विचन्द्रादि में "अर्थकार्यत्व" न होने से तथा "घट" में "अर्थकार्यत्व" होने से प्रत्यक्षाभास होने पर भी "घटज्ञान" प्रत्यक्ष ही है। धूमादि में और पार्थिवत्व आदि में लक्षण भेद नहीं है अर्थात् धूम से अग्नि के अनुमान में तथा पार्थिवत्व से लोहलेख्यत्व के अनुमान में, दोनों में अर्थकार्यत्व है। इसलिए यहाँ हम अनुमान, भूयोदर्शन के मलिन पौरुष वाला होने के कारण नहीं कर सकते। अतः एक भी स्थान पर व्याप्तिग्राहक "भूयोदर्शन" का विश्वास नहीं किया जा सकता।

यदि नैयायिक ऐसी शङ्का करें कि अर्थकार्यत्व और अकार्यत्व को ही लक्षणभेद मान लिया जाए, तदुत्पत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है ? तो बौद्ध पूर्वपक्षी की इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि घटादि-ज्ञान में अर्थकार्यत्व का विवाद होने पर प्रमाणान्तर से अथवा अर्थ-क्रिया की प्राप्ति से निश्चय होता है, केवल कथन-मात्र से नहीं। और न ही यहाँ "यह धूम का अग्नि के साथ सहचार सदातन है अथवा दो मित्रों के समान अत्ययपूर्वक {व्यभिचारसहित} ग्रहण किया गया है।" यह संशय होने पर सदातन सहचार के साधक प्रमाणान्तर की सङ्गति है अथवा न ही उसका कार्य कोई उपलब्ध होता है। अतः अर्थकार्यत्व और अकार्यत्व को लक्षण भेद का आधार नहीं मान सकते।

अब बौद्ध आगे कहते हैं कि यदि आप {नैयायिक} यह कहें कि बाध्यमानत्व और अबाध्यमानत्व स्वरूप वाला लक्षणभेद होगा, तो यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ अव्यभिचार के ग्राहक भूयोदर्शन के बाधितत्व की असिद्धि है→

——> और बाधा के न होने पर एक को छोड़कर सबका निषेध (प्रसज्यप्रतिषेध) करने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाणान्तर की सङ्गति अथवा अर्थक्रिया की प्राप्ति नामक अपवादपूर्वक निषेध (पर्युदास) भी असिद्ध है, अतः प्रथम पक्ष, अर्थकार्यत्व तथा अकार्यत्व के आधार पर लक्षणभेद नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरा पक्ष अर्थात् बाध्यमानत्व और अबाध्यमानत्व के आधार पर भी लक्षणभेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि नियमित-सम्बन्ध (व्याप्ति) के अभाव होने पर भी "पार्थिवत्व" आदि में "भूयोदर्शन" सम्भव है। अतः व्याप्ति को भूयोदर्शन से जानी जाने वाली नहीं माना जासकता।

९· वाचस्पति-मिश्र के मत का खण्डन :-

अब रत्नकीर्ति वाचस्पति मिश्र के मत पर विचार करते हैं और अत्यन्त ज़ोरदार शब्दों में उस मत का भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो कुछ भी वाचस्पति ने कहा कि जो जहाँ उपाधि से नियत है, वहाँ उसका स्वाभाविक-सम्बन्ध है, जैसे अग्नि में धूम का। उस उपाधि के दृश्य होने पर भी न प्राप्त होने के कारण,कहीं व्यभिचार के न दिखाई देने के कारण यह स्वाभाविक-सम्बन्ध है, यह यहाँ विचार किया जाता है। जिसके न दिखाई देने से स्वाभाविक-सम्बन्ध निश्चित किया जाता है, वह धूम-स्वरूप से दूसरी वस्तु "उपाधि" कही जानी चाहिए। जैसे अग्नि से दूसरी वस्तु "इन्धन"।

रत्नकीर्ति कहते हैं कि दूसरी वस्तु कोई दृश्य और कोई अदृश्य होती है। सभी वस्तुओं की दृश्यता निश्चित नहीं है और इसलिए धूम की भी "अग्नि" में "उपाधि" हो, परन्तु वह प्राप्त नहीं होती है, इस प्रकार की उपाधि-मात्र की अनुपलब्धि अनैकान्तिकी (अनिवार्य नहीं) है।रत्नकीर्ति कहते हैं:-

"तत्कथमदर्शनमात्रान्नास्त्येवोपाधिः, यतः स्वाभाविकसम्बन्धसिद्धिः स्यात् ।" {रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः, पृ० सं० 109}

अर्थात् यदि उपाधि की अनुपलब्धि हो ही जाए, यह आवश्यक नहीं है, तो कैसे केवल अदर्शन मात्र से 'उपाधि नहीं है।', ऐसा निश्चय किया जा सकता है और जब तक उपाधि की अनुपलब्धि का निश्चय न हो, तब तक स्वाभाविक-सम्बन्ध की सिद्धि कैसे हो सकती है ? और यदि हम दृश्य उपाधि का अभाव सिद्ध करें, तो सिद्ध की ही सिद्धि हो जायेगी। दूसरी ओर अदृश्य उपाधि की शङ्का होने पर स्वाभाविकत्व का प्रतिरोध वैसा ही रहेगा। अर्थात् यदि हम उपाधि के न दिखाई देने पर भी शङ्का करते रहें, तो स्वाभाविक नियम {व्याप्ति} बन ही नहीं पायेगा।

वाचस्पति-मिश्र का दूसरा तर्क कि कहीं व्यभिचार के न दिखाई देने से स्वाभाविक-सम्बन्ध है, यह बात भी अनुचित ही है, क्योंकि "उपाधि" के समान "व्यभिचार" की भी अदर्शन-मात्र से अभाव की सिद्धि होगी। और "व्यभिचार" के प्रत्येक स्थान तथा काल में सम्भव होने पर भी, दिखाई देने पर भी, सभी वस्तुओं के साथ हर समय, प्रत्येक स्थान पर सामग्री का अभाव होने पर भी निश्चित करना असम्भव है, क्योंकि "ब्राह्मणी" आदि के व्यभिचार के समान ही निषेध करके अदर्शन होने पर भी देशकालान्तर में उसके दर्शन का निषेध करना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि व्यभिचार रहते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि हमें दिखाई दे ही, अतः यह नहीं माना जा सकता कि कहीं व्यभिचार के अदर्शन के कारण स्वाभाविक-सम्बन्ध है।

तत्पश्चात् रत्नकीर्ति कहते हैं कि यदि आप {वाचस्पति मिश्र} यह कहते हैं कि "धूम की अपेक्षणीय अन्य वस्तु उपाधि है, तो "धूम" कहने से ही "अग्नि" की सत्ता की प्रतीति कैसे होगी ?" ——————→

⟶ तो हम यही तो विचार-विमर्श कर रहे हैं कि क्या धूम के होने पर अवश्य "अग्नि" होगी अथवा नहीं? कभी अन्य वस्तु "उपाधि" की अपेक्षा कर "धूम" भी हो, परन्तु "अग्नि" न हो, इसमें कौन सा निश्चित कारण है? अतः 'अग्नि' के अधीन उत्पत्ति वाला धूम सुनिश्चित है, उसके [अग्नि के] अभाव में कैसे "धूम" का भाव स्वीकार किया जाए? अर्थात् "अग्नि" के अभाव में "धूम" के भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती, यही कहना उचित है।

पुनः रत्नकीर्ति कहते हैं कि यदि पूर्वपक्षी यह शङ्का करे कि "यदि धूम व्यक्ति अथवा जाति में अग्नि का व्यभिचार नहीं देखा गया, तो वहां आशङ्का कैसे की जाए? तो हमारा [बौद्धों का] कहना यह है कि क्या स्थाणु व्यक्ति में अथवा जाति में पुरुषत्व देखा गया है जिससे "स्थाणु" में शङ्का की जाती है? यदि आप [नैयायिक] यह शङ्का करें कि स्थाणु को तो दूसरी जगह ऊर्ध्वता से चिह्नित देख लिया जाता है, इसलिए उसमें शङ्का की जाती है, तो हमारा [बौद्धों का] कहना यह है कि यहां भी बार-बार साथ रहने वाले "पार्थिवत्वादि" में व्यभिचार ही देखा जाता है। अतः धूम में अग्नि के व्यभिचार की आशङ्का होगी ही। रत्नकीर्ति कहते हैं कि यह एक अलौकिक बात है कि जहां जिसका संशय होता है, वहीं उसका दर्शन अपेक्षित होता है। यदि "धूम" व्यक्ति में व्यभिचार देखा गया, तो "व्याप्ति" में धूमसामान्य बहिर्भूत ही है, अतः संशय कैसे किया जाए? यदि "धूम" जाति में व्यभिचार देखा गया, तो भी व्यभिचार का निश्चय ही है, अतः "संशय" का प्रश्न ही कहां उठता है? इसलिए "धूम" जाति में न दिखाई देता हुआ भी व्यभिचार अथवा उपाधि का, दर्शन की अयोग्यता के कारण निषेध करना असंभव है, अतः संशय तो होगा ही।

और इस समय वह उपाधि अथवा व्यभिचार का संशय, स्वाभाविकत्वसंशयस्वभाव जो है, वह स्वाभाविकत्व निश्चय अर्थात् व्याप्ति के निश्चय को अवश्य रोकता है। इसलिए स्वाभाविकत्वनिश्चय का प्रतिबन्ध ही अर्थत: है, क्योंकि जब तक "स्वाभाविकत्वनिश्चय" न हो, तब तक गमक [हेतु] स्वयं कुछ नहीं कर सकता। तो इस प्रकार उपाधि की अनुपलब्धि अथवा व्यभिचार की अनुपलब्धि अनैकान्तिकी [अनिवार्य नहीं] है। अत: उन दोनों उपाधि अथवा व्यभिचार के अभाव को, यह उपाधि अथवा व्यभिचार की अनुपलब्धि सिद्ध नहीं करती, जिससे हम सम्बन्ध के स्वाभाविकत्व का निश्चय कर सकें। दूसरी बात यह है कि यदि "उपाधि" सिद्ध नहीं हो पाती, तो यह "उपाधि" "अनुपलब्धि" है, जैसे अग्नि, इन्धन के बिना धूम से सम्बद्ध नहीं होती, वैसे ही धूम भी इन्धन के बिना अग्नि से सम्बद्ध नहीं होता, अत: "इन्धन" का दोनों जगह समान ही "उपाधित्व" है।

रत्नकीर्ति पुन: अपने मत को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि पूर्वपक्षी [नैयायिक, मीमांसक] यह आशङ्का करें कि "अग्नि की सिद्धि होने पर इन्धन के सानिध्य से धूम की प्राप्ति होती है तथा इस प्रकार उपाधि की व्यवस्था होती है। दूसरी ओर धूम के असिद्ध होने पर तो तन्निमित्त [उसके कारण 'अग्नि'] की प्राप्ति होने से अव्यभिचार से स्वाभाविक-सम्बन्ध की स्थापना होती है" तो हमारा [बौद्धों का] इस विषय में कहना यह है कि ऐसा होने पर भी वही "तदुत्पत्ति" का सिद्धान्त आ गया अर्थात् इस "तदुत्पत्ति" को माने बिना तो आपका कार्य ही नहीं चल सकता। इस "तदुत्पत्ति" सिद्धान्त को तो आपको मानना ही होगा। यही स्वाभाविक-सम्बन्ध है। केवल कथन-मात्र से सिद्ध सहचार-मात्र ही स्वाभाविक-सम्बन्ध नहीं है। सहचार मात्र को ही स्वाभाविक-सम्बन्ध मानने पर तो स्वाभाविकता से सर्वत्र अव्यभिचार और सर्वत्र अव्यभिचार से स्वाभाविकत्व होगा। ——→

→ इस प्रकार इन दोनों का एक दूसरे के आश्रित रहना अनिवार्य होगा। ~~इसी तरह~~ दूसरी ओर जिसकी एक बार उत्पत्ति की प्रतीति ही सर्वत्र अव्यभिचार की प्रतीति है, वहाँ यह प्रसङ्ग ही नहीं उठता। अत: तदुत्पत्तिनिमित्तकही "व्याप्ति" माननी चाहिए।

व्याप्तिविषयक विवाद को जारी रखते हुए आगे रत्नकीर्ति कहते हैं कि यदि आप {नैयायिक} यह शङ्का करें कि "यदि ऐसा है अर्थात् यदि आप {बौद्ध} तदुत्पत्ति की एक बार उत्पत्ति की प्रतीति को ही सर्वत्र अव्यभिचार की प्रतीति मानते हैं, तो मेरी {वाचस्पति मिश्र} भी भूयोदर्शन से अव्यभिचार-सिद्धि हो जायेगी" तो हमारा {बौद्धों का} कहना यह है कि ऐसा नहीं है अर्थात् भूयोदर्शन से आप अव्यभिचार की सिद्धि नहीं कर सकते। "भूय" इस प्रकार असीमित संख्या होने से कितनी बार दर्शन से लक्षणानुसारी पूर्णता को {ज्ञान को} प्राप्त करोगे ? हमारे {बौद्धों के} मत में तो प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि में ये दो सीमित संख्यायें ही हैं। इन दोनों के आधार पर ही हम "स्वभाव-प्रतिबन्ध" का निश्चय कर लेते हैं। जैसा कि कहा गया है:-

"प्रागदृष्टो क्रमात् पश्यन् वेत्ति हेतुफलस्थितिम्।
दृष्टो वा क्रमशोऽपश्यन्नन्यथा त्वनवस्थितिरिति ।। :[1]

अर्थात् पहले न देखने पर, क्रम से देखता हुआ प्रमाता हेतु तथा फल की स्थिति को जान जाता है अथवा क्रमश: देखने पर बाद में न देखता हुआ, हेतु तथा फल की स्थिति को जान जाता है। यदि ऐसा न हो तो अनवस्था-दोष[2] हो जाएगा।

---

1. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली :- पृ० सं० 169.

2. जैसे बीज व अङ्कुर में से पहले किसकी उत्पत्ति हुई, इसका यदि निश्चय न कर पायें और यह चक्र चलता ही रहे, तो इसे अनवस्था-दोष कहते हैं।

अब रत्नकीर्ति वाचस्पति-मिश्र के एक अन्य तर्क पर आते हैं। रत्नकीर्ति ने "व्याप्तिनिर्णय:" में कहा है कि जो वाचस्पति ने न प्राप्त होने पर कल्पना की अनुपपत्ति वाली बात कही, वह तो बालक के लिए भी कहना अनुचित है, क्योंकि अप्राप्त वस्तु में कल्पना का अवकाश तो होता ही है। दृश्यमान "घट" कल्पित नहीं कहा जा सकता। प्राप्त वस्तु में तो कल्पना की सम्भावना भी नहीं है।

साथ ही यह कहना भी उचित नहीं है कि सन्देह की जाती हुई उपाधि व्याप्ति-सम्बन्ध की स्वाभाविकता को रोकती है, क्योंकि साधक और बाधक प्रमाण का अभाव होने पर ही संशय करना उचित है। यदि "उपाधि" के अभाव का साधक तथा "उपाधि" के रहने का बाधक प्रमाण वर्तमान है, तो सन्देह का अवसर ही कहाँ रह जाता है? इसलिए सर्वत्र शङ्का [रूपी पिशाची को अवकाश नहीं है अर्थात् सर्वत्र शङ्का] नहीं की जा सकती और जब सर्वत्र शङ्का नहीं की जा सकती, तो प्रमाता प्रवृत्त कैसे न हो? अर्थात् प्रमाता तो प्रवृत्त होगा ही।

रत्नकीर्ति पूर्वपक्ष की सभी सम्भावनाओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि आप [नैयायिक] ऐसी शङ्का करें कि "प्रमाण" के विषय में भी शङ्का की जा सकती है, तो हमारा [बौद्धों का] कहना यह है कि प्रमाण के विषय में शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वीकृत प्रमाण निश्चय ही फलदायी होता है। इसलिए अविवादित प्रमाण के विषय में, प्रमाण के निश्चय स्वीकार से अभिन्न ही उसका स्वीकार है।

और न ही वाचस्पति मिश्र द्वारा ऐसा कहना उचित है कि "शङ्का है", अत: प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अर्थ [लक्ष्य] का संशय होने पर भी स्नेहपूर्वक पौष्टिक भोजनादि का उपयोग देखा ही जाता है।

अतः प्रवृत्ति तो अनिवार्य ही है। पौष्टिक भोजन-पानी आदि खाने-पीने पर भी किसी समय प्रत्येक प्राणी की मृत्यु ही देखी जाती है, तब भी करोड़ों लोग जीवित दिखाई देते हैं, अतः संशय होने पर भी प्रवृत्ति अवश्य होती है और न ही इससे प्रामाणिक लोक-यात्रा की हानि होती है, क्योंकि शास्त्रकारों (प्रामाणिकों) ने ही प्रमाण के अभाव में संशय का विधान किया है।

रत्नकीर्ति, वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन करते हुए आगे कहते हैं कि वाचस्पति-मिश्र की यह बात कि दर्शन के अनुसार ही आशङ्का करनी चाहिए, इत्यादि बातें भी सिद्ध की ही सिद्धि हैं, क्योंकि अन्य स्थान पर देखे गये स्वाभाविक-सम्बन्ध में भी उपाधि अथवा व्यभिचार की शङ्का की जाती है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि बाधक के अदर्शन होने पर भी तथा साधक के अभाव होने पर भी शङ्का होगी ही।

अब रत्नकीर्ति वाचस्पति-मिश्र के मत का पूर्णतः निषेध करते हुए कहते हैं कि जो भी आपने "स्यादेतद्" आदि शब्दों से कहा (एक वस्तु का यदि दूसरी वस्तु कार्य है, तो सभी वस्तुएं, सभी वस्तुओं से उत्पन्न क्यों नहीं हो जातीं, क्योंकि "अन्यत्व" नामक गुण सभी में समान है, इत्यादि बातें कहीं) वह भी निःसार ही है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध रूप में ही स्वभाव का अवलम्बन होता है। स्वभाव के अवलम्बन से ही वस्तुस्वरूप-व्यवस्था नहीं होती। तो यदि "स्वभाववाद" निश्चित विषय के अन्वय तथा व्यतिरेक के ग्राहक, प्रत्यक्ष तथा अनुपलम्भ प्रमाण से सिद्ध, हेतु तथा पक्ष के होने पर हो, तो स्वाभाविक-सम्बन्ध में कहाँ से आ गया ?

रत्नकीर्ति अपने मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि "तदुत्पत्ति" रूपी सामग्री को हृदय से दूर करके, अन्य दो सहचारों (अन्वय सहचार तथा व्यतिरेक सहचार) से विशेषरूप से प्रतीति होने पर, तदुत्पत्ति का खण्डन नहीं किया जा सकता। उस सामग्री के अपेक्षित होने पर वह "तदुत्पत्ति" ही है। अर्थात् दो सहचारों की सामग्री के अपेक्षित होने से वहाँ भी "तदुत्पत्ति" ही है। उस "तदुत्पत्ति" को ही दूसरा नाम देकर स्वभाव प्रदर्शित करने से क्या लाभ ?

फिर किस प्रमाण से यह स्वाभाविक-सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है, इत्यादि उसके ग्रहण का प्रकार पहले ही निराकृत कर दिया गया है। इसी प्रकार स्वाभाविकता की असिद्धि होने पर "स्वभावतः प्रतिबद्ध हेतु" इत्यादि उपसंहार भी केवल मानसिक कल्पना है।

10. स्वमतस्थापन :-

इस प्रकार वाचस्पति-मिश्र के मत को समूल खण्डित करके रत्नकीर्ति अपने मत को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि इसलिए किसी अन्य वस्तु के जानने में कार्यहेतु तथा उसके भाव की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से होती है यह निश्चित ही है। अपने निबन्ध के अन्त में रत्नकीर्ति कहते हैं कि:-

"तदेवं स्वाभाविकवादेन हृदयानुलेपनमशुचिनेव परिहार्य दूरत इति ।"

तो इस प्रकार स्वाभाविकवाद से हृदयानुलेपन, अपवित्र के समान छोड़कर, दूर कर दिया गया।

इस प्रकार लेखक रत्नकीर्ति ने अपने इस निबन्ध में सरल, सुन्दर, प्रांजल भाषा में, स्पष्ट शब्दों में नैयायिकों तथा मीमांसकों के मत उद्धृत करते हुए, उनके मतों का क्रमशः विस्तारपूर्वक खण्डन करते हुए, अपने बौद्ध-मत को प्रतिपादित किया है तथा साथ ही साथ अपने मत की पुष्टि में विभिन्न तर्क भी दिए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नकीर्ति ने ग्यारहवीं सदी के उस काल में, जो कि "न्याय" की दृष्टि से कुछ अंधकारमय प्रतीत हो रहा था, अपना "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध लिखकर "तर्कशास्त्र" को बहुत अधिक योगदान दिया तथा बौद्ध-न्याय की ~~बहु-प्रचलित~~ परम्परा, जो लुप्तप्रायः प्रतीत होने लगी थी, उसे पुनर्जीवित किया।

==x==

"उपसंहार"

इस प्रकार सम्पूर्ण निबन्ध में हमने पाया कि भारतीय-दर्शन के इतिहास में हिन्दु-न्याय तथा बौद्ध-न्याय विकास की एक अनोखी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों की दृष्टि में "वस्तुवाद" तथा "विज्ञानवाद" का मौलिक-भेद है। इसी मौलिक भेद के कारण दोनों परस्पर एक दूसरे की आलोचना करते रहे, जिसके कारण काफी लम्बे समय तक "न्याय" के क्षेत्र में विद्वान् होते रहे तथा "न्याय" का साहित्य समृद्ध तथा जोशीला बना। आस्तिक-न्याय तथा बौद्ध-न्याय का काफी लम्बे समय तक यह समानान्तर विकास, जिसमें प्रत्येक ने दूसरे पर अप्रत्यक्षरूप से प्रभाव डाला, वास्तव में बेजोड़ है। बौद्ध, दूसरे सम्प्रदायों, विशेषकर मीमांसकों के विचारों से अत्यन्त प्रतिद्वन्द्विता रखते थे, लेकिन न्याय-शास्त्र के विषय में नैयायिकों से जितनी उनकी प्रतिद्वन्द्विता क्रमबद्ध तथा लम्बे समय तक चली, उतनी और किसी भी क्षेत्र में ही नहीं।

बौद्धन्याय के क्षेत्र में, दिङ्नाग से पहले नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु आदि ने बहुत कुछ कार्य किया, परन्तु नियमित रूप से बौद्ध-न्याय की स्थापना करने का श्रेय दिङ्नाग को ही प्राप्त है। रत्नकीर्ति दिङ्नाग-सम्प्रदाय के ही हैं तथा उन्होंने दिङ्नाग की परम्परा को आगे बढ़ाने में "व्याप्तिनिर्णयः" नामक निबन्ध लिखकर, अत्यन्त योगदान दिया है। अनुमान के अन्तर्गत व्याप्ति-विषयक विवाद बौद्ध-न्याय का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा तथा बौद्ध-दर्शन में व्याप्तिविषयक विवाद के मुख्य विषय हैं :-

१. "हेतु" कितने प्रकार का होना चाहिए ?

२. "अनुमेय" क्या होता है ?

३. "व्याप्ति" का स्वरूप क्या है ?

रत्नकीर्ति के "व्याप्तिनिर्णय:" में न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा को पूर्वपक्ष के रूप में दर्शाया गया है तथा दिङ्नाग-सम्प्रदाय के बौद्ध-दर्शन के आचार्य उत्तरपक्ष अथवा सिद्धान्ती के रूप में प्रकट किए गये हैं। बौद्ध "प्रमाण-व्यवस्था" को मानते हैं, जबकि आस्तिक दर्शन "प्रमाण संप्लव को मानते हैं। "प्रमाण-संप्लव" का तात्पर्य है :- एक पदार्थ को विभिन्न प्रमाणों से जानना अथवा किसी विषय को एक से अधिक प्रमाणों से जानना। न्याय-वैशेषिक दर्शन किसी अंश में "प्रमाण-व्यवस्था" को भी मानता है, परन्तु अधिकांशत: "प्रमाण-संप्लव" को ही इस दर्शन में माना गया है। "प्रमाण-व्यवस्था" का तात्पर्य है :-" किसी विषय को एक ही प्रमाण से जानना" । बौद्ध केवल "प्रमाण-व्यवस्था" को ही मानते हैं।

बौद्ध-दर्शन का मत है कि स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण-दो प्रकार के विषय होते हैं तथा इन विषयों को ग्रहण करने वाले "प्रमाण" भी दो प्रकार के होते हैं। "स्वलक्षण" को ग्रहण करने वाला "प्रत्यक्ष-प्रमाण" तथा "सामान्य-लक्षण" को ग्रहण करने वाला "अनुमान-प्रमाण" कहलाता है। दोनों प्रमाण एक दूसरे के विषय-क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते।

बौद्ध व न्याय-वैशेषिक दर्शन दोनों की प्रमेयविषयक मान्यताएँ भी एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। प्रमेयविषयक मान्यताएँ दोनों की अलग-अलग हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थों की कोई अवधि है, जबकि बौद्ध-दर्शन के अनुसार पदार्थ क्षणिक हैं।

बौद्ध-न्याय में अनुमान के विषय तीन प्रकार के सम्बन्धों से जुड़े हुए माने गए हैं :-

1. तादात्म्य (स्वभाव)
2. तदुत्पत्ति (कार्य)
3. अनुपलब्धि (अभाव)।

मुख्य तो उपर्युक्त दो ही सम्बन्ध हैं, "अनुपलब्धि" गौण है। "तादात्म्य" होने पर "व्याप्ति" में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। किसी कार्य को देखकर कारण का अनुमान "तदुत्पत्ति" है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में "साहचर्य-नियमो व्याप्तिः" कहा गया है अर्थात् "सहचार-नियम" को व्याप्ति माना गया है।

बौद्ध-न्याय के अनुसार भाव-पदार्थों में "व्याप्ति" दो प्रकार से पाते हैं :- 1. तादात्म्य के अनुसार 2. तदुत्पत्ति के अनुसार। तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के आधार पर व्याप्ति का निश्चय होता है। नैयायिकों ने तादात्म्य का खण्डन किया है। जब वस्तु एक ही है, तो उसे हम कल्पना से अलग-अलग कैसे कर सकते हैं ? 'तदुत्पत्ति' को कुछ हद तक नैयायिक मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार व्याप्ति का क्षेत्र तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति तक ही सीमित न होकर कहीं अधिक विस्तृत है। व्याप्तिसम्बन्ध स्वाभाविक, निरुपाधिक सम्बन्ध है, कार्य-कारण भाव हो या नहीं। नैयायिक "वस्तुवादी" हैं। "अनुपलब्धि" के विषय में नैयायिक का मत है कि जिस प्रमाण से जिस वस्तु का भाव ग्रहण होता है, उसके अभाव उसी प्रमाण से का भी ग्रहण होता है, अतः "अनुपलब्धि" को वे नहीं मानते।

"व्याप्तिनिर्णयः" में पूर्वपक्ष के रूप में कुमारिल भट्ट, वाचस्पति मिश्र तथा त्रिलोचन के मत दिए गए हैं तथा सिद्धान्ती रत्नकीर्ति स्वयं हैं।

"व्याप्तिनिर्णयः :- एक अध्ययन" नामक निबन्ध में जैसा कि आप देख ही चुके हैं - हमने इस निबन्ध को पाँच अध्यायों के रूप में रूपायित किया है। प्रथम अध्याय में हमने दिङ्नाग-सम्प्रदाय की अनुमान-विषयक धारणा को स्पष्ट किया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम बौद्धों की प्रमाणविषयक मान्यताएँ निरूपित की गई है। "प्रमाण" किसे कहते हैं ? "प्रमाण" कितने प्रकार के हैं ? प्रमाणों का विषय अर्थात् "प्रमेय" क्या है ?

इन सब विषयों में धर्मकीर्ति के "न्यायबिन्दु", "प्रमाणवार्तिक" तथा वाचस्पति मिश्र की "न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका" में वर्णित बौद्धों के प्रमाण-विषयक विचारों में से उद्धरण दिए गये हैं। धर्मकीर्ति के मत में वह ज्ञान "प्रमाण" है, जो अपने द्वारा उपदर्शित वस्तु को प्राप्त कराने की सामर्थ्य रखता है। बौद्धों के मत में "प्रमाण" के दो प्रकार हैं :- प्रत्यक्ष तथा अनुमान। अन्य दर्शनों द्वारा स्वीकृत इन दो के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को भी बौद्ध इन्हीं दो प्रमाणों में अन्तर्भाव कर देते हैं। "प्रमेय" भी दो ही माने गये हैं:- स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण। प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों के ग्राह्य और अध्यवसेय के भेद से दो-दो प्रकार हैं। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय "स्वलक्षण" तथा अध्यवसेय "सामान्यलक्षण" है। इसके विपरीत अनुमान का ग्राह्य विषय "सामान्यलक्षण" तथा अध्यवसेय विषय "स्वलक्षण" है। इसके पश्चात् इस अध्याय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण का स्वरूप प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। बौद्धों के मत में कल्पनारहित ज्ञान ही "प्रत्यक्ष" है। तत्पश्चात् अनुमान का स्वरूप, अनुमिति के करण या "हेतु" के प्रकार तथा स्वभाव-प्रतिबन्ध (व्याप्ति) को निरूपित किया गया है। "हेतु" को बौद्धों ने त्रैरूप्यसम्पन्न माना है। ये त्रिरूप हैं:-

1. पक्ष में विद्यमान होना।
2. सपक्ष में विद्यमान होना।
3. विपक्ष में विद्यमान न होना।

इसके बाद त्रिरूपसम्पन्न (हेतु) से अनुमिति कैसे होती है? इसका विवेचन करते हुए व्याप्ति, अविनाभाव-नियम या स्वभाव-प्रतिबन्ध का रूप स्पष्ट किया गया है। बौद्ध स्वभाव-प्रतिबन्ध को तादात्म्य ~~तथा~~ अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक मानते हैं। अभाव पदार्थ का ग्रहण वे "अनुपलब्धि" से मानते हैं।

इसके बाद बौद्धों के मत में अनुमान का विषय मानस है, बाह्य नहीं तथा अनुमान के दो रूप :- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान आदि से सम्बद्ध विचारों का स्पष्टीकरण किया गया है। तत्पश्चात् बौद्धों की इन प्रमाण-विषयक मान्यताओं के आधारस्वरूप अन्य सिद्धान्त क्षणभङ्गवाद, अनात्मवाद, अपोहवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

"व्याप्तिनिर्णय: - एक अध्ययन" नामक निबन्ध के द्वितीय अध्याय में न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुमानविषयक विचारों को प्रकट करते हुए व्याप्ति-सम्बन्ध का अत्यन्त स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। इस अध्याय में नैयायिक सम्मत "प्रमाण" का अर्थ, प्रमाण के प्रकार, प्रत्यक्ष-प्रमाण आदि को बताते हुए अनुमान-प्रमाण का स्वरूप, विभिन्न दृष्टिकोणों से अनुमान प्रमाण के भेद, पञ्चावयववाक्य, पञ्च हेतु-रूप, पञ्च हेत्वाभास आदि का विवेचन करते हुए व्याप्तिविषयक धारणा पर आने का प्रयास किया गया है। नैयायिक-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसक दार्शनिक व्याप्ति को "भूयोदर्शन" से होने वाली मानते हैं तथा स्वाभाविक, निरुपाधिक सम्बन्ध को "व्याप्ति" मानते हैं। इसके बाद पूर्वमीमांसा की अनुमानविषयक धारणा लगभग न्याय-वैशेषिकों के समान ही होने के कारण उसका पृथक् से निरूपण नहीं किया गया है।

प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में बौद्ध तथा न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा के अनुमानविषयक विचारों की तुलना की गई है। यहाँ भी क्रमश: दोनों की प्रमाणविषयक मान्यताएँ, प्रमेय विषयक मान्यताएँ, प्रत्यक्ष-प्रमाण का स्वरूप, अनुमान-प्रमाण का स्वरूप, हेतुरूप, हेत्वाभास, अनुमान के भेद आदि के विषय में तुलना करते हुए व्याप्तिविषयक विचारों की विशद रूप में तुलना की गई है। आस्तिक व नास्तिक दर्शन के अनुसार व्याप्ति का स्वरूप, व्याप्ति-ग्रहण का उपाय आदि से सम्बद्ध विचारों की तुलना की गई है।

तत्पश्चात् चतुर्थ अध्याय में "रत्नकीर्ति" से पूर्व व्याप्ति के सम्बन्ध में जो आस्तिक व नास्तिक दर्शनों के बीच विवाद था, उसका वर्णन किया गया है। रत्नकीर्ति से पूर्व दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि जो महान् बौद्ध नैयायिक हुए थे, उनके तथा आस्तिक दार्शनिकों के बीच व्याप्तिविषयक विवाद कहाँ तक पहुँचा था ? इसका वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् पञ्चम तथा अन्तिम अध्याय - "रत्नकीर्ति का व्याप्तिनिर्णय: " में रत्नकीर्ति के मूल निबन्ध "व्याप्तिनिर्णय:" की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। रत्नकीर्ति ने किस प्रकार पूर्वपक्ष के मत को उभारते हुए, क्रमश: प्रत्येक मत का खण्डन किया है, यह सब इस अध्याय में द्रष्टव्य है।

इस प्रकार यदि निष्पक्ष रूप से हम न्याय-वैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा दर्शन और बौद्धों के व्याप्तिविषयक विचारों पर दृष्टिपात करें, तो हमें बौद्धों का मत ही अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है। हाँ, नैयायिक-मत में भी कुछ सार तो है, परन्तु बौद्धों की युक्तियों के आगे नैयायिक-मत कान्तिहीन-सा जान पड़ता है। "भूयोदर्शन" के आधार पर ही व्याप्ति को मानना तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता। बार-बार देखने पर यह आवश्यक तो नहीं कि हम सही अनुमान ही लगायें ? दूसरे, जो नैयायिक 'उपाधि' को खोजने की बात कहते हैं, वह भी प्रमाता के लिए एक समस्या ही है। कैसे ज्ञात हो कि उपाधि है या नहीं ? "उपाधि" का पता लगाना अत्यन्त टेढ़ी खीर है। दूसरी ओर बौद्धों का तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिनिमित्तक व्याप्ति को मानना कुछ हद तक सही है भी और नहीं भी। "तादात्म्य" के आधार पर व्याप्ति कैसे मानी जा सकती है ? "तादात्म्य" होने पर हेतु व साध्य का भेद ही न होगा, अत: एक से दूसरे का अनुमान कैसे किया जा सकता है ?

~~"तादात्म्य" होने पर हेतु व साध्य का भेद ही न होगा, अतः एक से दूसरे का अनुमान कैसे किया जा सकता है?~~ कार्य-कारण के आधार पर व्याप्ति का निश्चय कहीं सही होता है, कहीं गलत भी हो जाता है। कहीं हम कार्य को देखकर किसी कारण का अनुमान करते हैं, लेकिन वह कारण नहीं होता, कोई और भी हो सकता है।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम यही कहेंगे कि प्रत्येक मत में दोष व गुण तो होते ही हैं। सर्वथा निर्दोष व सर्वथा दोषी तो कोई भी नहीं होता। जैसा कि सांख्यदर्शन में भी बताया गया है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु "सत्त्व, रजस्, तमस्" इन तीन गुणों का समवाय है। किंतु फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि दोनों दर्शनों (आस्तिक व नास्तिक) की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुसार उनके विचार उचित ही है, क्योंकि यदि दोनों दर्शन अपने-अपने मत से हटने की चेष्टा करते हैं, तो उनके मूल दार्शनिक सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेंगे। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल बौद्धों को व्याप्ति को तादात्म्य अथवा तदुत्पत्तिनिमित्तक तथा नैयायिकों-वैशेषिकों तथा पूर्वमीमांसकों को स्वाभाविक सम्बन्ध, निरुपाधिक सम्बन्ध, भूयोदर्शनजन्या मानने को बाध्य होना ही पड़ता है।

==x==

ग्रन्थ-सूची

1. "रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः" -रत्नकीर्ति - सं0 प्रो0 अनन्तलाल ठाकुर, पटना से, 1975 में प्रकाशित, द्वितीय संस्करण ।

2. "ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली" - ज्ञानश्रीमित्र - सं0 प्रो0 अनन्तलाल ठाकुर, पटना से, संवत् 2016 में प्रकाशित।

3. न्यायबिन्दुटीका - धर्मोत्तर - सं0 श्री निवास शास्त्री, साहित्य-भण्डार, मेरठ से, 1975 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।

4. न्यायदर्शनम् - गौतम - अनन्तलाल ठाकुर, "मिथिला इंस्टीट्यूट सीरीज" में 1967 ई0 में मुद्रित।

5. "प्रमाणवार्तिक" {मनोरथनन्दी टीका} - धर्मकीर्ति, सं0 - स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी से, 1968 में प्रकाशित ।

6. "वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन" - श्री निवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र से 1968 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।

7. भारतीय दर्शन शास्त्र - न्याय-वैशेषिक - धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल-बनारसीदास, बनारस से 1953 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।

8. "ए क्रिटीक ऑफ् इण्डियन रीएलिज्म" - धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से 1964 में प्रकाशित ।

9. "बुद्धिस्ट लाजिक" - श्चेरबात्स्की - डावर पब्लिकेशन, यूनाइटेड किंग्डम, न्यूयार्क से 1962 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण।

10. "हिस्ट्री आफ् इण्डियन फिलासफी" वाल्यूम 2. - डा0 उमेश मिश्र इलाहबाद से 1966 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।"

11. "ए हिस्ट्री आफ् इण्डियन लाजिक" - सतीशचन्द्र विद्याभूषण-कलकत्ता से 1970 में प्रकाशित - प्रथम संस्करण, पुनर्मुद्रण - दिल्ली में 1971 तथा 1978 में।

12• भारतीय-दर्शन-उमेशमिश्र-लखनऊ से 1970 में प्रकाशित, तृतीय संस्करण।

13• भारतीय-दर्शन-चट्टोपाध्याय व दत्त-पटना से प्रकाशित।

14• भारतीय-दर्शन-बलदेव उपाध्याय।

15• "धर्मोत्तरप्रदीप"- पं० दुर्वेक मिश्र - सं०-पं० दल सुखभाई मालवणिया-पटना से प्रकाशित ।

16• "श्लोकवार्तिकम्"- कुमारिलभट्ट - सं० द्वारिका दास शास्त्री, वाराणसी, 1978•

17• "इण्डियन फिलासाफी" वाल्यूम 2• - डा० राधाकृष्णन् लन्दन, 1923, प्रथम संस्करण ।

18• "हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासाफी" - वाल्यूम 1• डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, कैम्ब्रिज से 1957 में पुनर्मुद्रित । प्रथम बार मुद्रित 1922 में ।

19• प्रशस्तपादभाष्यम् - प्रशस्तपादाचार्य - सं० - गोपीनाथ कविराज, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से 1930 में प्रकाशित ।

20 " फ्रेग्मेन्ट्स फ्राम दिङ्नाग" - एच• एन• रेन्डल, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन से 1926 में प्रकाशित, प्रथम संस्करण ।

21• श्लोकवार्तिक काशिकान्वितम् ।

==:==

II